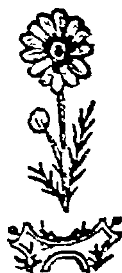
प्रकाशक---
देवनारायण द्विवेदी,
तथा
श्रीकृष्ण पांडे।



मुद्रक—
विश्वमित्र कार्य्यालय।
१३ नारायण प्रसाद बाबू लेन,
कलकत्ता।



भारत हृदय-सम्राट लोकमान्य भगवान् बालगङ्गाधर तिलक।

समर्पण ।



जिन भारतीय-हृदय-सम्राट् लोकमान्य पण्डित बालगंगाधर तिलक महाराजका भक्तवन लेखक थोड़ा वहुत राजनीतिक ज्ञान प्राप्तकर यह छोटीसी पुस्तक लिखनेमें समर्थ हुआ है; उन्हीं ब्राह्मणकुलतिलक स्वर्गीय महानुभावकी अमर आत्माको यह तुच्छ भेंट परम श्रद्धा भक्तिके साथ सादर समर्पित है।

लेखक ।

दो बातें।

इतने दिनोंतक राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी खोज करते हुए हमें जो बातें प्राप्त हुई हैं वे सबकी सब इस छोटीसी पुस्तकमें हमने देनेकी चेष्टा की हैं। कहांतक सफलता प्राप्त हुई है, यह सहृदय पाठक ही समझ सकते हैं। अवश्य ही कुछ तो समयाभाव और कुछ स्थानाभावके कारण प्रायः सभी बातें सूत्ररूपसे ही दी जा सकी हैं तथापि हमें आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी संसारके लिये एक नवीन और हर समयके लिये उपयोगी वस्तु होगी। यदि हमने देखा कि वास्तवमें इसे हिन्दी संसार अपनाता है और प्रकाशकका उत्साह बढ़ा तो दूसरे संस्करणमें सभी बातोंका विस्तृत विवेचन करनेकी हमारी दृढ़ अभिलाषा है। इस पुस्तकके लिखनेमें हमें अंग्रेजी भाषाकी कई पुस्तकोंसे बहुत कुछ सहायता मिली है जिसके लिये हम उनके लेखकोंके हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस पुस्तकके प्रकाशक पं० देवनारायणजी द्विवेदीने जिस साहस और परिश्रमसे इसे प्रकाशित किया है उसके लिये पाठकोंको आपका विशेष अनुगृहीत होना चाहिये। किमधिकम्।

लेखक।



पं० मातासेवकजी पाठक (सम्पादक विश्वमित्र)

लेखक परिचय।

प्रस्तुत पुस्तक सहृदय हिन्दी प्रेमियोंके सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें यह उचित जान पड़ता है कि लेखक महोदयका भी संक्षेपमें कुछ परिचय करा दें। जिसके अनुशीलनसे पाठकों-को कई एक शिक्षाएं मिलेंगी। इसके लेखक कलकत्तेके प्रसिद्ध राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक पत्र 'विश्वमित्र' के सुयोग्य सम्पादक हमारे पूज्य हितैषी श्रीमान् पं० मातासेवकजी पाठक हैं। हमे जिस समयसे आपके निर्भीक विचारोंको सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है उसी समयसे हम हृदयसे चाहते थे कि यदि पाठकजी अपने दृढ़ राजनीतिक विचारोंको पुस्तक द्वारा प्रकट करते तो हिन्दी भाषा-भाषियोंका बड़ा उपकार होता। कोई एक वर्ष पहले हमने पाठकजीसे इसके लिये साग्रह अनुरोध किया हर्ष है कि उन्होंने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंपर एक पुस्तक लिखनेका वचन भी दे दिया। परन्तु पाठकजीका ऐसा स्वभाव है कि, वे कोई भी पुस्तक पूरी लिखकर नहीं देते वरं ज्यों ज्यों छापती जायगी त्यों त्यों लिखते जाते हैं। हमें कई बार ऐसा भी देखनेमें आया है कि, एक ओर तो आप दैनिक पत्रके लिये विचार-पूर्ण लेख लिख रहे हैं और दूसरी ओर पुस्तककी कापीके लिये कम्पोजीटर खड़े हैं। दोनों ही कार्योंका सम्पादन आवश्यकता-नुसार साथ ही साथ करते हुए भी आप आगत सज्जनोंसे बीच

विचमें वार्तालाप करते जाते है किन्तु उनके चेहरेसे लेशमात्र भी यह प्रतीत नहीं होता है कि वे कार्यव्यस्त हैं। यही कारण है कि आपने तबतक पुस्तक लिखनेमें हाथ भी नहीं लगाया जबतक कि हमने इसे छपाना शुरू नहीं किया। अनेक झञ्झटोंसे ही इसके छपानेमें इतना विलम्ब हुआ नहीं तो अबतक यह "राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त" पुस्तक कितनोंको राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंको ज्ञात करा अपने द्वितीय संस्करणकी तैयारी करती। अस्तु। अब हम पाठकजीके जीवनका संक्षिप्त हाल देते और आशा करते हैं कि इससे नवयुवकोंको बहुतसी उपयोगी शिक्षाएं प्राप्त होंगी।

संवत् १९४८ आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा भौमवारके दिन शुभ पुष्यय नक्षत्रमे प्रयागान्तर्गत सरसा नगरके प्रतिष्ठित पाठक वंशमें आपका जन्म हुआ था। यह नगर गङ्गाजीके तटपर बसा हुआ जिलेमें नाजकी एक भारी मंडी है। आपके पूज्य पिताका नाम पं० जगन्नाथ प्रसाद पाठक था। पूज्य पिताजीके भी गत वर्षके भाद्रपदमे देहावसान हुआ है। वे बड़े सरल स्वभावके ब्राह्मण थे। उन्होने अपना सारा जीवन स्वतंत्र आजीविका (कृषि) से व्यतीत किया था। पाठकजीके कई भाई बहीनें थीं। किन्तु इस समय आप अपने मातापिताकी एकमात्र जीवित सन्तान हैं। 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात।' की कहावत पाठकजीके सम्बन्धमे अक्षरशः चरितार्थ होती है। आप बड़े ही स्पष्टवादी, निर्भीक और खरे स्वभावके हैं। आपकी पूज्य माताजीसे हमें ऐसा सुननेमें आया था कि, जब पाठकजी चार पांच वर्षके थे तब एकबार ऐसा हुआ

कि, घरमें माताजीके सिवा और कोई नहीं था क्योंकि पाठकजीके पिताजी अपने ज्येष्ठ पुत्रके पास रायगढ़ चले गये थे। रात्रिमें माताजी घबड़ाकर रोने लगीं। स्तन पान करते हुए पाठकजीने उनके नेत्रोंमें आंसू भरा देख तोतली वाणीसे माताजीसे रोनेका कारण पूंछा। माताजीने कहा—बेटा! तुम्हारे बड़े भाई तो परदेशमें थे ही. उन्होंने देखनेके लिये तुम्हारे पिताजी पन्द्रह दिनके लिये कलकत्ता गये सो बीस दिन हो गये वे अभीतक नहीं आये। इसीसे अकेली उदास हो रही हूं। बालक मातानीयरजीने झट उत्तर दिया, "मां!" अकेली क्यों हो मैं भी तो हूं न? नादान बच्चेकी यह तुतली बात सुन माताका जी भर आया और उनकी सिसकियां जाती रहीं। पर इसी घटनासे स्पष्ट है कि पाठकजी बाल्यावस्थासे ही निर्भीक, निर्भीक हैं।

पूज्य भ्राताजी तो और पढ़ाना चाहते थे किन्तु पिताकी अनिच्छा-से उन्हे वंचित रहना पड़ा।

जिस समय पाठकजी इलाहाबादमें पढ़ते थे उस समय वहां स्वदेशी आन्दोलन प्रचण्डरूप धारण किये हुए था। उर्दूमें 'स्वराज्य' और 'रास्तगो' नामक दो पत्र निकलते थे जिनसे आपको बड़ा प्रेम हो गया था। आप तो नियमानुसार पढ़ते ही थे बोर्डिंग हाउसके अन्यान्य छात्रोंको भी सुनाया करते थे। 'हिन्दी केशरी' आदि और भी कई राष्ट्रीय पत्र आप मंगाया करते थे और उनके पढ़नेमें ही अधिक समय व्यतीत करते थे। उस समय ये अङ्गरेजी बहुत ही थोड़ी सीखे थे किन्तु डिक्शनरीकी सहायतासे 'वन्दे मातरम्' तथा 'अमृतबाजार पत्रिका' पढ़कर समझनेकी चेष्टा करते रहते थे। यही कारण है आप बहुत शीघ्र पक्के राष्ट्रीय विचारके हो गये।

१९०७ में आपने दो विचारोंके संकल्प किये (१) विदेशी वस्तुओंका परित्याग (२) सादेसे सादे ढंगकी पोशाकका पहिनना। अबतक पाठकजी अपनी प्रतिज्ञापर डटे हुए हैं और स्वदेशी मोटेसे मोटे वस्त्रको ही धारण करते हैं। अङ्गरेजीका योग्यताके सम्बन्धमें इतना ही कह देना काफी होगा कि आज-कलके ग्रेजुएट भी जिन बातोंको नहीं समझ पाते उन्हें आप बातकी बातमें समझा देते हैं। ग्रेजुएटोंकी भूलोंका संशोधन करते हुए भी हमने पाठकजीको देखा है। परन्तु आप ऐसे सादे वेषमें रहते हैं कि कोई अपरिचित व्यक्ति आपको देखकर यह अनुमान भी नहीं कर सकता कि ये "गुदड़ीके लाल" हैं।

जिस समय पाठकजीने स्वदेशीकी उक्त प्रतिज्ञाएं की थीं उसी समयसे आपने अपनी मानसिक योग्यता बढ़ानेकी चेष्टा प्रारम्भ की। शारीरिक शक्तिके बढ़ानेके भी आप बड़े पक्षपाती हैं। आप पांच पांच सौ डंड और बैठक किया करते थे और देशी कसरतसे ही प्रेम भी रखते थे। अंग्रेजी स्कूलमें आपका यही नियम रहता था कि वर्षके और सारे दिनका अधिकांश समय तो समाचार पत्र पढ़ने, सभाओंमें जाने, कभी कभी समाचारपत्रोंको लेख लिखने और व्यायाम करनेमें ही व्यतीत होते थे किन्तु जब परीक्षाका समय बिलकुल निकट आ जाता तब रातदिन उसकी तैयारीमें लग जाते और फिर उस समय साधारण व्यायामके अतिरिक्त भोजनादि भी विस्मृत हो जाते थे। पाठकजी जैसे कुशाग्रबुद्धि व्यक्तिके लिये इतना समय ही परीक्षा उत्तम नम्बरोंसे पास करनेके लिये पर्याप्त था। स्कूल-मास्टर तथा सहपाठी आपका कार्यक्रम और [illegible] देख-कर चकित हो जाते थे।

जब आप पढ़ ही रहे थे तभी एकबार होलीके पवित्र दिन आपने अपने ही तीन मित्रोंके साथ अपने घरमें हवन करनेका विचार किया। हवन तो किया गया, किन्तु उनके [illegible] मित्रोंके [illegible] [illegible] ऊपर होलीके बड़े [illegible] लिये [illegible] [illegible] लिए गए। उन्होंने सबके [illegible] शुरू किया कि ये सब [illegible] हैं [illegible] हैं और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

उन्होंने यह भी प्रसिद्ध किया कि, ये लोग एक दूसरेका जूठा खानेमें कोई हर्ज नहीं समझते और हवनके दिन एकही गिलासमें सबने वारीवारीसे उसे साफ किये विना ही पानी पिया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, विरोधियोंका जमाना अच्छा था इसलिये उन लोगोंने पाठकजी और इनके मित्रोंको समाजच्युत करा दिया। पाठकजीका दृढ़ चित्त तो कभी विचलित नहीं हुआ, किन्तु इनके और इनके मित्रोंके वृद्धोंको उससे वड़ा कष्ट प्रतीत हुआ। पाठकजीका स्वभाव है कि, किसी प्रकारके भी भयसे अपने किसी दृढ़ व्रतसे नहीं विचलित होते। इसीसे इन्होंने कोई १०-१२ वर्षतक घोर जातीय अपमान सहे, किन्तु विरोधियोंके सामने सिर नहीं झुकाया यद्यपि विरोधी केवल यही चाहते थे कि, पाठकजी एकवार उनके पास जाकर कह दें कि 'मैं आर्यसमाजी नहीं हूं, और इतनेहीमें उनसे मेल कर लिया जाय। पाठकजी घृणापूर्वक उनका प्रस्ताव अस्वीकार करते रहे। दैवेच्छासे पाठकजीके मित्रोंकी संख्या क्रमशः वढ़ती गयी और इनकी कष्टसहिष्णुता तथा त्यागने समाजपर इनका प्रभाव अनायास ही जमाना शुरू किया। साथ ही विरोधियोंकी शक्ति दिनपर दिन क्षीण होने लगी। अन्तमें स्वयं विरोधियोंको ही पाठकजीके सामने आ दो तीन वार अपने कियेपर पश्चात्ताप करनेको लाचार होना और फिरसे मेलका प्रस्ताव करना पड़ा। यद्यपि जितना अपमान वर्षों पाठकजी और उनके कई मित्रोंको सहना पड़ा था उसे सोचते और पाठकजीके खरे स्वभावको देखते किसीको भी यहांतक कि

इनके मित्रोंको भी आशा नहीं थी कि ये उन्हींको फिर अपनायेंगे जिनके कारण इन्हें 'सबसे कठिन जाति अपमान' सहना पड़ा था, परन्तु 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनिकुसुमादपि' की उक्ति पाठकजी-की प्रकृतिके सम्बन्धमें अक्षरशः चरितार्थ होती है। आपका स्वभाव ऐसा संकोची और क्षमाशील है कि, विरोधी यदि आपके सामने आ जाय तो आंखोकी शील उसके भयङ्करसे भयङ्कर अप-राधको भुला देनेंके लिये पाठकजाको लाचार कर देती है। निदान, अपने मित्रोके विरोध करनेपर आपने उनसे स्पष्ट कह दिया कि भाई मुझसे यह कदापि नहीं हो सकता कि जो आदमी कल्हतक मेरा अनिष्ट करनेका प्रयत्न करते थे वे ही यदि आज मेरी सब बातें मान मेल करना चाहते हैं, तो भी उन्हें न अप-नाऊं। इसीसे मित्रोंके विरोध करनेपर भी अपने भूले हुए भाइयोंको गले मिलानेमे पाठकजीने कुछ भी संकोच नहीं किया। किसीको यह कदापि न समझना चाहिये कि पाठकजी एक कठोर आर्य्यसमाजीकी तरह व्यर्थ धार्मिक बकवादमें कुछ अनु-राग रखते हैं। धर्मके सम्बन्धमें इनका इस समय दृढ़ विश्वास यही है कि मातृभूमिकी जैसी हीनावस्था इस समय है इसमें किसी भी धर्मका सच्चा अनुयायी अपने धर्मकी आज्ञाओका ठीक ठीक पालन कर ही नही सकता। इसलिये वे राष्ट्रकी सेवा अपना परम धर्म मानते और प्रसङ्ग पड़नेपर वैसा ही करनेका अन्योंसे भी अनुरोध किया करते हैं।

जब पाठकजी अंग्रेजीकी निम्न श्रेणियोंहीमे पढ़ते थे तभीसे सार्वजनिक कामों और मुख्यकर स्वदेशी आन्दोलनमें अनुराग

दिखाने लगे थे। वह जमाना ऐसा था कि आर्य समाजके मेम्बरों-पर पुलिसकी बड़ी कड़ी दृष्टि रहती थी। यद्यपि किसी नियमित आर्य समाजके आप मेम्बर नहीं थे, किन्तु नकली धर्मात्माओंको पुलिसके भयसे मेम्बरी छोड़ते देख आप खुल्लमखुल्ला अपनेको आर्य्य समाजी बताते थे। इससे आपपर भी पुलिसकी वक्र दृष्टि पड़ गयी। एक इतनी ही बात काफी थी, किन्तु पाठकजी तो स्वदेशीकी सभाओंमें सम्मिलित होते, विद्यार्थी होकर भी गरम समाचारपत्रोंके पढ़नेमें अपना अधिक समय खर्च करते और कभी कभी अपनी छुट्टियोंमें स्वदेशीका प्रचार भी करते थे। विद्यार्थी अवस्थासे ही खुफिया पुलिस आपका पीछा कर तङ्ग करने लगी और वर्षों तक तो बुरी तरह तङ्ग किया। यहांतक कि उसके पीछे पड़नेके कारण ही आपको एकबार एक स्थानकी नौकरी छोड़नेतकको बाध्य होना पड़ा था। इस समय पुलिस पीछे तो नहीं रहती जान पड़ती किन्तु जब पाठकजी घर जाते हैं तब इनके आने जानेका पता वह लगाती और सम्भवतः उस सम्बन्ध-की रिपोर्ट करती रहती है।

पाठकजीको प्रारम्भसे ही सरकारी नौकरी करनेसे घृणा थी। एकबार इलाहाबादके जिला मजिस्ट्रेटके कहनेपर भी आपने सरकारी नौकरी नहीं की। जबतक आपके जेष्ठ भ्राताजी जीवित थे तबतक तो आपको गृहस्थीकी कोई चिंता थी नहीं इसलिये आपने देशी संस्थाओंमें कार्य करनेके विचारसे वृन्दावन और कांगड़ीके गुरुकुलों तथा देहरादूनके डी० ए० वी० हाई स्कूलमें समय समयपर काम किया। परन्तु आपका हार्दिक अनुराग

पत्रसम्पादनके काममें था। ज्योंही हाथरसके दानवीर कुंवर महेन्द्रप्रताप सिंहजीने देहरादूनसे 'निर्बल सेवक' नामक हिन्दी साप्ताहिक निकालनेका विचार किया त्योंही उन्होंने उसके सम्पादनके लिये पाठकजीको बुला लिया और उसके सम्पादनका कुल भार पाठकजीपर ही छोड़ दिया यद्यपि उसपर सम्पादक का नाम कुंवरजीका ही रहता था। कुंवर महेन्द्र प्रतापजी पाठकजीकी योग्यता और कार्यदक्षतापर मुग्ध थे, किन्तु जब वे पत्रका प्रबन्ध एक दूसरे सज्जनको सौंप विलायत जाने लगे तब पाठकजीने उनकी अनुपस्थितिमें देहरादूनमें रहनेसे इनकार कर दिया और उनके विलायत जानेके चार दिन पहले ही (निर्बल सेवकको छोड़) अपने घर चले आये। यहां आ मुख्तारगिरीकी परीक्षाकी तैयारी करने लगे और उसमें सम्मिलित भी हुए, किन्तु पास नहीं हुए। और भी एक बार परीक्षा दी, किन्तु फेल ही हुए, तैयारी फिर किसी भी परीक्षा देनेमें सफलता नहीं हुई।

ही थे वे शीघ्र ही आ गये और भारतमित्रके सम्पादनमें वाजपेयी-जीको सहायता देने लगे। इस तरह कोई दो वर्ष पाठकजी भारतमित्रमें रहे। पीछे जब बाबू मूलचन्दजी अग्रवाल बी० ए० ने दैनिक विश्वमित्र निकाला तब पाठकजी विश्वमित्रमें भी लिखने लगे। उन दिनों वे नियमानुसार काम तो करते थे भारतमित्रमें, किन्तु प्राइवेट तौरपर विश्वमित्रके लिये भी वहां जाकर लेख लिख आया करते थे। पाठकजीके समान शीघ्रतासे लिखनेवाले या यों कहिये कि लिखनेमें न थकनेवाले पत्रसम्पादक कदाचित् ढूंढ़-नेसे विरले ही मिलेंगे। अच्छे अच्छे पत्रसम्पादक भी आपकी लेखनशक्तिकी बात सुन दांतो अंगुली दबाते हैं। आपने अबतक कितनी ही पुस्तकें लिख डाली हैं। आजकल पाठकजी दैनिक विश्वमित्र द्वारा देश और देशवासियोका जो हित कर रहे हैं उसके सम्बन्धमे हमारे कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। परमात्मा इसी प्रकार बहुत अधिक समयतक पाठकजीको नीरोग और स्वस्थ रखता हुआ उनके द्वारा देशहित साधन करावे, -यही हमारी हार्दिक प्रार्थना है।

देवनारायण द्विवेदी।

राज्य-सम्बन्धी-सिद्धान्त।

(पहला अध्याय)

१—राज्यकी उत्पत्ति और अर्थ।

आज संसारमें कितने ही छोटे बड़े राज्य विद्यमान हैं। संसारके प्रत्येक व्यक्तिका किसी न किसी राज्यसे कुछ न कुछ सम्बन्ध होता है। इसलिये प्रत्येकको राज्यसम्बन्धी सिद्धान्तोंको खूब समझ लेना चाहिये, क्योंकि बिना उनके

प्रकृतियोंमें थोड़ा बहुत अन्तर सर्वत्र पाया जाता है। परन्तु साथ ही सभी मनुष्योंमें ऐक्य और समाजरचनाकी प्रकृति भी विद्यमान है। यह प्रकृतिही राज्यरचनाका मूल कारण होती है, और यह मनुष्यके भीतर आरम्भसे ही होती है। यह ईश्वरकी उत्पन्न की हुई होती है, इससे इसके फलस्वरूप बना हुआ राज्य भी ईश्वरीय संस्था समझा जाता है। राज्यको ईश्वरीय संस्था माननेवालोंके भी दो भेद हैं। एक श्रेणीमें तो वे लोग हैं जो राज्यको ईश्वरकी प्रत्यक्ष रचना मानते हैं और इसे पृथ्वीपर ईश्वरीय शासनका स्वरूप समझते हैं। दूसरी श्रेणीमें वे हैं जो समझते हैं कि, राज्य परमात्माका अप्रत्यक्ष रूपसे रचा हुआ है और वह अप्रत्यक्ष रूपसे ही उसका शासन करता है। पहली श्रेणीके विचारवालोंका प्राचीन कालमें कभी बड़ा जोर था, पर वह विचार दोषपूर्ण होनेसे आज प्रायः सर्वत्र ही त्याग दिया गया है। जब राज्य ईश्वरकी प्रत्यक्ष रचना है, तो स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि, वह प्रत्यक्ष रूपसे उसका शासन क्यों नहीं करता? सच तो यह है कि, परमात्माने मनुष्यको राजनीतिक प्राणी बनाया है, परन्तु उसके हृदयमें जो ऐक्य और समाजसंगठनके भाव पैदा कर दिये हैं, उनके अनुसार अपने लिये उपयुक्त राज्यरचनाके लिये उसे स्वतंत्र कर रखा है। इसमें सन्देह नहीं कि, राज्याधिकार परमात्माके अधीन है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि, परमात्माने किसी खास श्रेणी या समुदायके

लोगोंपर विशेष कृपाकर उन्हें ही सदाके लिये राज्यका अधिकारी बना दिया है और उन्हें ही अपना प्रतिनिधि नियुक्तकर राज्यका शासन करनेका अधिकार दे रखा है। पहली श्रेणीके विचारवाले स्वभावतः यही समझते हैं, कि ईश्वरने किसी राज्यका जिसे अधिपति बनाया है, वह सदाके लिये उसका अधिपति है और उसके भले बुरे कामोंके विरुद्ध राज्यके जनसाधारणको एक भी शब्द कहनेका कोई अधिकार नहीं है। इसका जो फल भूतकालमें अनेक राज्योंमें हुआ है उसकी साक्षी उनके इतिहास दे रहे हैं। इसका फल यही हुआ और हो सकता है कि, अपनेको ईश्वरीय प्रतिनिधि समझ राज्यका शासक मनमाने काम कर सकता और मनुष्य अभ्रान्त नहीं है, इसलिये स्वभावतः उससे भारी भूलें हो सकती हैं। परन्तु वह ईश्वरका प्रतिनिधि है इसलिये उसके विरुद्ध किसी तरहका विचार भी करना महा भयंकर राजद्रोह है। इसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि, राज्यके शासककी स्वेच्छाचारिता दिनपर दिन अधिक हो जानेपर भी वह तथा उसके वंशज अधिक कालतक राज्यके अधिपति बने रहेंगे और अन्तमें उनके मार्गभ्रष्ट होनेसे राज्य भी नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। उस दशामें मनुष्यमात्रके भीतर राज्यरचनाके जो बीज वर्तमान हैं और जिनसे योग्य रीतिसे काम लेनेके लिये परमात्माने प्रत्येक प्राणीको स्वतन्त्र बना रखा है, उनका कभी विकास नहीं हो सकता। इसलिये राज्यके मनुष्य

अपने ही रचे हुए राज्यके शासकके अनुचित रूपसे इच्छादास बन अपनी प्राकृतिक शक्तियोंको निकम्मी कर बैठेंगे। सच तो यह है कि, राज्य प्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यका रचा हुआ है और अप्रत्यक्ष रूपसे ही ईश्वरीय है। कारण यह कि, परमात्माने मनुष्यकी प्रकृतिमें सामाजिक संगठनकी प्रवृत्तिका बीजारोपण कर रखा है और इस तरह राज्यरचनाकी जड़ डाल दी है। इसीसे राज्यके शासकका दायित्व प्रत्यक्ष रूपसे राज्यके जनसाधारणके प्रति है जिन्होंने राज्यकी रचना की है यद्यपि अप्रत्यक्ष रूपसे वह ईश्वरके प्रति भी अपने कार्यांके लिये उत्तरदाता है। इसलिये किसी राज्यका शासक तभीतक ईश्वरका प्रतिनिधि होनेका दावा कर सकता है और जनसाधारणको उसे तभीतक ईश्वरीय प्रतिनिधि समझना चाहिये, जबतक वह जनसाधारणके प्रति अपनी जिम्मेवारी समझता और धर्माधर्म विचारके कार्य करता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि, मनुष्य स्वभावसे ही राजनीतिक प्राणी है, क्योंकि उसके भीतर आरम्भसे ही समाजरचना और ऐक्यके भाव विद्यमान रहते हैं। जब मनुष्य होश सम्भालता और संसारमें प्रवेश करता है, तभीसे वह अपनी स्थिति दृढ़ करने और समयपर काम आनेके लिये अपने पासपड़ोसके आदमियोंसे हेलमेल पैदा करने लगता है। उसकी इस चेष्टाके साथही राज्यरचनाकी नींव पड़ती है, यद्यपि ऐसा हेलमेल पैदा करते समय उसके ध्यानमें

स्वप्नमें भी राज्यरचनाका विचार नहीं आता है। जब कितने ही लोगोंसे उसका मेल हो जाता है तब परस्पर एक दूसरेके काममें हाथ बटानेके कारण उन सबका एक समाज बन जाता है और उस समाजमें जो साहसी और बुद्धिमान् होता है उसे वह अपना मुखिया मान लेता है। कारण यह कि कुछ तो उसके मनुष्योचित गुणोंसे उस मनुष्यके हृदयमें मुखिया-से भय होता है और कुछ मुखियाके ऊपर उसे विश्वास भी हो जाता है। वह मनुष्य अपने समाजके अन्य मनुष्यों-के साथ जब अपनेमेंसे किसी मनुष्यको अपना मुखिया बना लेता है, तब धीरे धीरे वे सभी मनुष्य उसकी रायके अनु-सार काम करने लगते और सदा वही मुखिया उस समाज-रूपी शरीरके कार्योंका संचालक होता है। समय पाकर अन्य समाजोंसे सम्पर्क होनेसे तथा सभ्यता और अनुभव बढ़ जानेसे राज्यरचनाका विचार पैदा होने लगता है। समाजों-में मुखिये ही प्रधान कार्यकर्त्ता होते हैं और जनसाधारण उनकी आज्ञाओंके अनुसार चलना ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझते हैं। इसीसे राज्यरचनाका पहला विचार भी उनके मुखियोंके हृदयमें ही पैदा होता है। यह इच्छा पैदा होते ही वे अपना व्यवस्थित और शक्तिसम्पन्न राज्य स्थापित करने-के लिये दृढ़तापूर्वक उद्योगमें लग जाते हैं। जनसाधारण उनकी आज्ञाओंका पालन करना ही अपना धर्म समझते हैं, इसलिये पहलेपहल राज्यरचनाका बहुत ही साधारण

विचार उनके हृदयमें उत्पन्न हुआ करता है। धीरे धीरे यह विचार बढ़ने लगता और अन्तमें समाजके उच्चसे उच्च और निम्नसे निम्न श्रेणीके सभी आदमियोंके हृदयमें यह बड़ा जोर पकड़ जाता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि, जो शक्ति-सम्पन्न हैं उनके हृदयमें तो सबपर अपना आधिपत्य जमानेका विचार पैदा होता और निर्बलोंके हृदयमें सबलोंकी अधीनता-का होता है। अन्तमें व्यक्तियोंकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति ज़ोर मारती है। पर जबतक वह इच्छाशक्ति कुछ ही व्यक्तियोंमें बलवती होती है तबतक उसका विशेष परिचय नहीं मिलता। ज्योंही वह अधिकांश जनतामें पैदा हो जाती है, त्योंही जाति या राज्यकी प्रबल इच्छाशक्तिका पता लोगोंको चल जाता है। इस तरह राज्यद्वारा ही जनता अपने वास्तविक भीतरी ऐक्यका परिचय दे स्वतन्त्ररूपसे सम्मिलित संगठन प्राप्त कर सकती है। मानव स्वभावमें राजनीतिकी यह प्रवृत्ति ही राज्यके आरम्भका पता बतानेवाली है। इस प्रकार राज्य-रचनाका पता लगानेके बाद हम राजनीति विद्याके पंडित सुप्रसिद्ध जर्मन ब्लंशलीके राज्यके इस अर्थको पहुंचते हैं कि, राज्य शासक और शासितके रूपमें एक निश्चित भूमिभागके मनुष्योंका एक संघ या संगठन है या संक्षेपमे यो कहिये कि, राज्य एक निश्चित देशका राजनीतिक दृष्टिसे संगठित राष्ट्रीय व्यक्ति है।

२—राज्यकी विशेषताएं।

राज्य प्रत्यक्ष रूपसे मनुष्योंकी रचना है और सभी मनुष्यों-के भीतर ऐक्य और संगठनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसलिये कई ऐसी विशेषताएं हैं जो संसारके सभी राज्योंमें पायी जाती हैं। पहली विशेषता तो यह है कि, प्रत्येक राज्यमें बहुतसे आदमी संयुक्त होते हैं। कितने मनुष्योंसे राज्य बनता है, इसका कोई परिमाण निश्चित नहीं है। किसी किसी राज्यमें लाखो और किसीमें कुछ ही हजार आदमी हो सकते हैं। परन्तु जबतक एकही वंश है तबतक वह चाहे जितने आदमियोका हो कदापि राज्य नहीं बन सकता। राज्यके लिये आवश्यक है कि, कितने ही वंश मिलकर जाति बनें जिसमें बहुतसे पुरुषों, स्त्रियों या बालकोका एकत्रीकरण हो। बिना जाति या राष्ट्रके राज्य नहीं हो सकता। दूसरी विशेषता यह है कि, राज्य बने रहनेके लिये उसके भीतरके लोगोका उसकी भूमिसे स्थायी रूपसे सम्बन्ध होना आवश्यक होता है। राज्यको अपनी भूमिकी आवश्यकता होती है। जाति या राष्ट्र और देश दोनों साथ रहते हैं। कितनी ही खानाबदोश या सदा एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाने-वाली जातियोंके लोगोके भी मुखिया होते हैं और उनके शासनके लिये कुछ निश्चित नियम भी होते हैं, पर जबतक वे निश्चित रूपसे कहीं बसकर काम काज न करने लगे, तबतक राज्यकी पूर्ण अवस्थाको नहीं पहुंच सकते। राज्यकी तीसरी

विशेषता कुल लोगोका ऐक्य और जातिका संयोग है। इसका यह अर्थ नहीं कि राज्यके भीतर वसनेवाली जातियोंका पूर्ण रूपसे सब बातोंमें मेल होना ही आवश्यक है। राज्यके भीतर कितने ही भिन्न भिन्न भाग हो सकते हैं और वे एक दूसरेसे स्वतन्त्र हो सकते हैं। राज्यके भीतर कई भाग भी हो सकते हैं। परन्तु जबतक जाति भीतरसे संयुक्त न हो और बाहरसे उसका एक संगठित रूप न दिखाई पड़े या वह बाहरी बातोंमें एक होकर काम न कर सके, तबतक राज्य नहीं होता। चौथी विशेषता यह है कि सभी राज्योंमें शासकों और शासितोंमें अन्तर पाया जाता है। जहां शासितोंपर शासकोंका कोई आधिपत्य नहीं है और जहां शासितोंने शासकोंकी राजनीतिक अधीनता त्याग दी है और प्रत्येक व्यक्ति वही काम करता है जो उसकी समझसे ठीक जान पड़ता है, वहां अराजकता फैल जाती है और राज्यका अन्त हो जाता है। परन्तु अराजकता सदा तो बनी ही नहीं रह सकती, इस लिये कुछ ही समय बाद जो अत्यन्त प्रबल होता है वह राज्याधिपति बन बैठता है और लोगोंसे जबर्दस्ती आज्ञाओंका पालन कराता है और इस तरह शासक और शासितोंका भेद फिर पैदा हो जाता है। पांचवीं विशेषता यह है कि, राज्य किसी भी तरह निर्जीव नहीं है। यह सजीव है और इसीसे संगठित स्वरूपमें है। राजनीतिज्ञ इसे सजीव मानते और शब्दोंमें इसकी मूर्त्तिका रूप भी प्रकट करते हैं। परन्तु

बहुतोंको उसकी राजनीतिक इन्द्रियोंका पूरा पता नहीं होता। जिस तरह मूर्त्ति केवल पत्थरके टुकड़ोंका संयोग ही नहीं, बल्कि कुछ और ही वस्तु होती है और जिस प्रकार मनुष्य हाड़मांसका बना हुआ पुतला ही नहीं है, उसी प्रकार जाति या राष्ट्र केवल नगरवासियोंका समूह ही नहीं है और न राज्य बाहरी नियमोंका संयोग ही है। राज्य प्रकृतिका रचा हुआ नहीं है, इससे यह प्राकृतिक इन्द्रियां नहीं रखता। परन्तु यह मनुष्यकी रचना है, इसलिये इसकी रचना प्राकृतिक इन्द्रियरचनाके अनुकरणपर की गयी है। प्राकृतिक प्राणिरचनामें ये विशेषताएं होती हैं;—(१) प्रत्येक रचनामें आत्मा और शरीरका मेल रहता है। (२) कुल रचना यद्यपि पूर्ण होती है, पर यह भिन्न भिन्न भागोंसे मिलकर बनी होती है जिनकी चेष्टाएं और योग्यता भिन्न भिन्न होती हैं और प्रत्येक कुलकी भिन्न भिन्न प्रकारकी आवश्यकताएं पूरी करती हैं जैसे नाक सूंघनेकी, कान सुननेकी और जीभ चखनेकी इत्यादि। (३) शरीररचना भीतरसे अपने आप ही उन्नति करती और बाहर फैलती है। इसी तरह राज्यका शरीर और आत्मा अर्थात् इच्छाशक्ति और काम करनेवाले अंग एक दूसरेसे जुड़े हुए होते हैं। राष्ट्र या जातिकी आत्मा राज्यकी आत्मा होती है और राष्ट्रीय इच्छाशक्ति राज्यकी इच्छाशक्ति होती है। राज्यकी शासनपद्धतिमें कानून राज्यकी इच्छाशक्तिका, प्रधान शासक सिरका, अदा-

लतें सार्वजनिक न्याय करनेका और सेना शक्तिका काम करती है। यही शासनपद्धति राज्यका शरीर है। इसी शरीरमें राष्ट्र अपने सजीव जीवनमें प्रकट होता है। एक राज्य आत्मा, आचरण और स्वरूपमें दूसरे राज्यसे इसी तरह-से भिन्नता रखता है जिस तरह एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे रखता है।

ऊपर कह आये हैं कि राज्यकी शासनपद्धति मनुष्यके शरीरके ढांचेकी तरह है। उसका प्रत्येक विभाग और राजनीतिक संस्था उस राज्यका अंग है और प्रत्येकका अपना अपना काम अलग अलग है। परन्तु कोई अंग निर्जीव नहीं है। प्रत्येकके कार्य आत्मिक ढंगके होते हैं और खास खास अवसरोंपर सार्वजनिक जीवनकी आवश्यकताके अनुसार उनके कार्य बदलते रहते हैं। वे जीवनका काम देते और स्वयं सजीव हैं। एक अंगके निर्जीव हो जानेपर राज्यरूपी शरीर अंगभंग और अन्तमें नष्ट हो जाता है। राज्यका प्रत्येक पद या भाग एक विशेषता और आत्मा रखता है जो उसपर रहकर काम करनेवालेपर प्रभाव डालती रहती है। एक साधारण व्यक्ति भी राज्यके किसी उच्च पदपर पहुंच जाता है, तो उसका प्राकृतिक उत्साह और जोश बढ़ जाता है। जजका आसन ऐसा उच्च और पवित्र होता है कि, एक निर्बलात्मा पुरुष भी उसपर नियुक्त हो जाता है, तो उसके हृदयमें न्याय करनेकी आकांक्षा प्रबल हो उठती है। राज्यके किसी

पद या भागकी आत्मा पदाधिकारीका स्वभाव तो नहीं बदल सकती, पर प्रत्येक पदाधिकारी अनुभव करता है कि वह उस-पर अपना बहुत कुछ प्रभाव अवश्य डालती है। राष्ट्रों और राज्योंके बदलनेके अपने समय अलग ही होते हैं। राष्ट्रीय और राज्यके इतिहासोंके समयकी नाप युगोंसे होती है जो एक मनुष्यके जीवनकालसे बहुत ही लम्बा चौड़ा होता है अर्थात् व्यक्तियोंका समय वर्षों और दशकोंमें नापा जाता है और राज्यों तथा राष्ट्रोंका शताब्दियोंमें। परन्तु इतना होनेपर भी व्यक्तियों और राज्योंकी अवस्थाओंके बदलनेके समयोंमें भारी अन्तर है। मनुष्यका शरीर नियमित समयोंमें बढ़ता और घटता है, पर राजरूपी शरीरके बढ़ने घटनेके समय सदा नियमित नहीं होते हैं।

दोनोंही नष्ट कर दिये हैं। राज्यकी शक्ति और ख्याति बढ़ाना और उसके कल्याणकी वृद्धि करना महान् आत्माओंका कर्त्तव्य है। राज्यके दुःख-सुखके भागी उसके सभी प्रजाजन हुआ करते हैं। राज्यमें पुरुषोंके गुण हैं, यह उसकी सेना और पुरुषोचित अंगों और कामोंसे स्पष्ट है।

३—सार्वभौम राज्य।

मनुष्यके स्वभावमें ही राजनीतिक अस्तित्वकी इच्छा और आवश्यकताका बीज वर्त्तमान रहता है, इसीसे वह राज्यरचना-तक पहुंचता है। परन्तु यह प्राकृतिक गुण संसारके सभी मनुष्योंमें पाया जाता है, इसलिये मनुष्य ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों त्यों उसकी राजनीतिक उन्नति करनेकी इच्छा भी प्रबल होती जाती है। राष्ट्रीय विशेषताके कारण ही मनुष्यको राज्यकी आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि सभी मनुष्योंमें राज-नीतिक अस्तित्वकी इच्छा और आवश्कताका जो बीज है वह भी राज्यकी आवश्यकताका कारण होता है। इसीलिये राज्य-रचना कर लेनेके बाद भी मनुष्यकी राजनीतिक आकांक्षा नहीं पूरी हो लेती और वह राष्ट्रीय ऐक्यसे आगे बढ़ मानवजातिके ऐक्यकी चिन्ता करना जितना व्यक्तियोंका काम नहीं होता उतना राष्ट्रोंका होता है। जब राज्यरचना भी केवल एक व्यक्तिकी इच्छा और प्रयत्नसे तबतक असम्भव है जबतक वैसी

ही इच्छा और प्रयत्नके लिये बहुतसे मनुष्य उद्योगशील न हों तब भला सार्वभौम अर्थात् संसारभरके मनुष्योंको एक राजनीतिक लड़ीमें बांधना किसी व्यक्ति विशेषका काम कैसे हो सकता है। हमारा विचार है कि, यदि व्यक्तियोंका काम राज्यरचनातक ही समाप्त हो जाय और सार्वभौम राजनीतिक ऐक्यके लिये संसारके राष्ट्र मिलकर उद्योग करें, तो एक राष्ट्रकी स्वतंत्र राज्यकी रचनाकी तरह ही सब राष्ट्रोंद्वारा वह ऐक्य स्थापित होना असम्भव नहीं है। परन्तु यह कार्य स्वतंत्र राष्ट्रवाले राज्योंसे ही हो सकता है, क्योंकि ऐसे राज्योंमें ही सब मनुष्योंमें प्रकृतिसे ही विद्यमान राजनीतिक तत्वोंका सच्चा विकास सम्भव है और ऐसे राज्य ही राष्ट्रके ऐक्यसे उच्च मानव जातिके ऐक्यकी वास्तविक इच्छा कर सकते और पृथ्वीभरके राष्ट्रोंको एक राजनीतिक सूत्रमें जोड़ कुल मानव जातिका सार्वभौम राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हो सकते हैं। सार्वभौम राज्य स्थापित करनेके समय समयपर अनेक प्रयत्न भूतकालमें हो चुके हैं, पर अभीतक किसीको उन प्रयत्नोंमें सफलता नहीं प्राप्त हुई है। परन्तु अभीतक सफलता न होनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कभी सफलता होगी ही नहीं। सच तो यह है कि, सार्वभौम राज्य या साम्राज्यकी स्थापना ही मानव जातिकी उन्नतिका आदर्श है और वह राजनीतिक सभ्यताकी उन्नतिके साथ ही क्रमशः कम कष्टसाध्य होता जा रहा है और वह कभी न कभी स्थापित होकर ही

रहेगा, चाहे वैसा होनेमें कई शताब्दियां ही क्यों न लग जायं। भारतवासियोंने बहुत प्राचीनकालमें सार्वभौम राज्य स्थापित करनेमें सफलता प्राप्त की थी यह बात हिन्दुओंके अनेक धर्म ग्रंथोंसे प्रमाणित होती है परन्तु कितनोंहीको वह कपोलकल्पित ही जान पड़ती है, इसलिये हम अपने इस विषयपर विचार करते समय यही लिखना चाहते हैं कि, कुल पृथ्वीके मनुष्योंको एक सूत्रमें पिरोनेके लिये अभी सैकड़ों वर्षोंके समय की आवश्यकता होगी। पर जैसा हमने ऊपर कहा है सार्वभौम राज्यकी स्थापना स्वतंत्र राष्ट्रों द्वारा ही हो सकती है क्योंकि एक राष्ट्र चाहे कितना ही अधिक शक्तिशाली क्यों न हो, पर समस्त मानवजातिको अपने अधीन कर लेनेकी शक्ति उसमें नहीं हो सकती। यही कारण है कि, भूतकालमें सार्वभौमराज्य स्थापित करनेके लिये जितने प्रयत्न एक राष्ट्रकी ओरसे हुए वे निष्फल हुए। परन्तु मानवजाति जैसे जैसे राजनीतिक उन्नति करती जा रही है वैसे ही वैसे संसारके राष्ट्र एक दूसरेके अधिक निकट पहुंचते जा रहे हैं और आज संसारके सभी राष्ट्रोंमें थोड़े या बहुत मानवजातिके ऐक्यके विचार पैदा हो गये हैं। इसी विचारके कारण आज संसारके एक भागमें भी उपद्रव होता है तो सारे संसारको भय होने लगता है कि, इससे हमें भी थोडी बहुत हानि उठानी पड़ेगी। इस विचारके कारण ही जर्मनी और उसके मित्रोंपर विजय प्राप्त करनेवाले पश्चिमीय राष्ट्रोंने राष्ट्र संघ स्थापित करनेका उद्योग किया है

जो एक प्रकारसे सार्वभौम राज्यही होगा, यह दूसरी बात है कि, अनेक भूलें करनेके कारण भूतकालके अनेक वारके प्रयत्नोंकी तरह इनके भी प्रयत्न निष्फल हो जायँ।

हम पहले कह आये हैं कि, स्वतन्त्र राष्ट्र ही राज्यके व्यक्तित्वका अनुभव कर सकता है। इसीलिये हमारी धारणा है कि, मानवजातिके व्यक्तित्वका अनुभव भी स्वतन्त्र राष्ट्रोंके सिवा और कोई नहीं कर सकता। जबतक यह अनुभव न हो तबतक पहले तो सार्वभौम राज्यकी स्थापना ही असम्भव है और यदि हो भी जाय तो वह अधिक दिनोंतक रह नहीं सकता। कारण यह कि, कुल मानव जातिपर किसी व्यक्ति या राष्ट्र विशेषका एकाधिपत्य होना असम्भव है। इसीलिये सार्वभौम राज्यकी स्थापनामें हमारा यह अभिप्राय नहीं है, कि कुल मानवजाति किसी एक अधिपतिके अधीन हो जाय और वह जिस तरह चाहे

अंगकी तरह हों और उसके भीतर वे पूर्णताको प्राप्त करें। सच्चे सार्वभौम राज्यका उद्देश्य किसी राज्य विशेषको नष्ट भ्रष्ट करना तथा अंतर्गत राष्ट्रों या जनताओंको तङ्ग करना नहीं, वल्कि राज्योंमें शान्ति वनाये रखना और राष्ट्रोंको स्वतन्त्रता प्रदान करना होगा। इस तरह राज्यकी अत्यन्त उच्च कल्पना यह है कि, राज्य संगठित मनुष्यजाति है, पर वह पुरुष गुणवाला है, स्त्री गुणवाला नहीं।

कितने ही लोग इस प्रकारके सार्वजनिक राज्य या साम्राज्यके सम्बन्धमें कितनी ही प्रकारकी आपत्तियां किया करते हैं। पहली आपत्ति तो यह की जाती है कि, सार्वभौम साम्राज्य होनेसे उसका आधिपत्य समस्त संसारपर हो जायगा और भिन्न भिन्न राज्योंका आधिपत्य जाता रहेगा। हमारी समझसे यह विल्कुल निराधार है। कारण यह कि कोई राष्ट्र चाहे कितना ही वड़ा क्यों न हो, पर वह इतना वड़ा नहीं है कि कुल मानवजाति उसमें आ सके, और अन्य सभी राष्ट्रोंको वह वशीभूत कर सके। जव कोई एक राष्ट्र इतना वड़ा नहीं है तव किसी राजा विशेषका कुल जगत्पर राज्य होना तो और भी अधिक असम्भव है। इसीसे हमने ऊपर स्पष्ट कर दिया है कि, सार्वभौम राज्यसे हमारा तात्पर्य उस साम्राज्यसे है जिसके संसारके सभी राज्य अंग वने रहें और उस साम्राज्य तथा उन राज्योंके कार्यक्षेत्र और अधिकारक्षेत्र पृथक् पृथक् हों। सभी राज्य अपने भीतरी मामलोंमें स्वतन्त्र वने रहेंगे और

सार्वभौम राज्यके कार्यक्षेत्रमें केवल ऐसे विषय होंगे जिनका सम्बन्ध संसारके कुल राज्योंसे एक समान होगा ; जैसे संसारकी शांति बनाये रहना, व्यापारकी रक्षा करना और विशेषकर सार्वराष्ट्रीय मामलोंका प्रबन्ध करना। अवश्य ही अभीतक इस प्रकारका साम्राज्य स्थापन करनेमें सफलता नहीं हुई है, पर यह सम्भव है। चाहे इसकी स्थापनाके योग्य सभ्यताकी उन्नति होनेमें कितना ही समय क्यों न लगे, पर ऐसा साम्राज्य कभी न कभी बनेगा अवश्य; क्योंकि सभी मनुष्योंमें जो एक प्रकारकी स्वाभाविक राजनीतिक प्रवृत्ति है वह मानवजातिको एक सूत्रमें जोडे बिना नहीं रह सकती। दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि. व्यक्तियोंमें जो मतभेद है वह स्वाभाविक है, पर राष्ट्रोंका अन्तर दिखावटी है, क्योंकि वे पूर्ण और न्यायानुरूप हैं। इसीसे अनेक व्यक्ति एक साथ रह सकें, इसके लिये तो राज्यके अधिकारोंसे निरन्तर काम लेना आवश्यक है. पर राज्योंके एक साथ रह सकनेके लिये उसकी आवश्यकता नहीं है या बहुत कम है। यह कथन भ्रमपूर्ण है. क्योंकि जिस तरह व्यक्तियोंमें दोष होते हैं उसी तरह उनसे बने हुए राष्ट्र भी निर्दोष नहीं होते। राष्ट्रोंकी भी विकारपूर्ण आकांक्षाएं भिन्न भिन्न हुआ करती है। इसलिये यदि सभी राष्ट्रोंपर एक प्रकारके शासनके लिये कोई व्यवस्था न हो, तो इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि, असहाय और निर्बल राष्ट्रोंको मजबूत राष्ट्र उसी तरह

हड़पते जायंगे जिस तरह चूहेको बिल्ली। समय समयपर एक राज्य अपनी शक्ति, चतुराई या छलफरेबसे दूसरे राज्यको जिस तरह हड़पता रहा है और आज भी कितने ही राज्य संसारपर अपना प्रभुत्व जमानेके लिये जिस प्रकार सैन्य बढ़ाते और विज्ञानकी उन्नति करके मनुष्यसंहारी शस्त्रास्त्रोंका आविष्कार करते जा रहे हैं, यह किसीसे छिपी हुई बात नहीं है। राष्ट्रोंकी पारस्परिक एक दूसरेके विरुद्ध अभिलाषाओंको सीमाके भीतर रखने और संसारमें शान्ति बनाये रखनेके लिये सार्वभौम राज्यकी अत्यन्त आवश्यकता है। तीसरी आपत्ति यह की जाती है कि, व्यक्ति निर्बल होते हैं, इससे उन्हें राज्यकी शक्तिके आगे सिर झुकाना ही पड़ता है पर राज्य सबल हैं, इसलिये वे किसी उच्च अधिकारीके सामने सिर न झुकायेंगे। हमारी समझसे तो यह बिल्कुल ही लड़कपनकीसी बात है। कारण यह कि कोई राज्य चाहे कितना ही सबल क्यों न हो, पर वह कुल संसारके विरुद्ध खड़ा हो सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। रही किसी राज्यके अत्यन्त बली होनेकी बात, सो तो हम समझते हैं कि, राज्य जितना ही अधिक सबल होगा उतना ही यह निश्चय है कि वह सार्वभौम साम्राज्यके अत्याचारोंका शिकार न हो सकेगा। सार्वभौम साम्राज्यके होनेपर भी युद्ध होना असम्भव नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि उस समय भी आजकी तरह परस्पर विरोधी

राज्योंके गुट बँध जानेपर युद्ध छिड़ सकता है। यदि वैसा न हो तो सार्वभौम राज्यके भीतर जब कोई ऐसा झगड़ा खड़ा होगा जिससे आज राज्योंमें युद्ध छिड़ जाते हैं, तो उस न्यायालयद्वारा उसका निपटारा हो जायगा जो सब राष्ट्रोंके लिये एक प्रकारके कानूनसे काम लेता है। इस-पर चौथी आपत्ति यह की जाती है कि, यदि सार्वभौम साम्राज्य इतना अधिक सबल होगा कि वह किसी राज्यसे जबर्दस्ती उसकी इच्छाके विरुद्ध काम करा सके, तो उसकी यह शक्ति न्याय और स्वतन्त्रताका घात करेगी। कारण यह कि, जहां प्रतीकार असम्भव है वहां स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इसका उत्तर यह है, कि एक नागरिककी अपेक्षा राज्य जितना अधिक शक्तिशाली होता है, सार्वभौम राज्य किसी राज्यकी अपेक्षा किसी प्रकार उतना शक्तिशाली न होगा। इसलिये जिस तरह राज्यकी शक्तिसे नागरिकोंकी स्वतन्त्रतापर आघात नहीं पहुंचता उसी तरह सार्वभौम राज्यकी शक्तिसे राज्योंकी स्वतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं उप-स्थित हो सकती। पांचवीं आपत्ति यह की जाती है, कि व्यक्तियोंकी उन्नतिके लिये राष्ट्रीय राज्य आवश्यक है, परन्तु व्यक्तियोंके कल्याणके लिये सार्वभौम राज्यकी आवश्यकता नहीं और वह राष्ट्रोंकी उन्नतिके लिये सङ्कट-जनक होगा। सच पूछिये तो व्यक्तियोंकी भी सभी आव-श्यकताएं राज्य नहीं पूरी कर सकते। लौकिक और

पारलौकिक दोनो प्रकारके विज्ञान, व्यापारादि अनेक कुल संसारसम्बन्धी विषय हैं जिनकी उन्नतिके लिये सार्व-भौम राज्य आवश्यक है। छठी और सबसे बड़ी आपत्ति यह की जाती है, कि सार्वभौम राज्य मानवजातिका कुल जीवन ही हड़प जायगा, वैयक्तिक स्वतन्त्रताका सिद्धान्त नष्ट कर देगा और अन्तःकरण तथा ज्ञानपर अनुचित लौकिक शासन स्थापित कर देगा। इस सम्बन्धमें सबसे पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिये कि, एकमात्र राज्यही मनुष्योंका समाज नहीं है और राज्यके स्वरूपमें ही मनुष्य-जाति शरीर नहीं रखती है। धार्मिक संगठन भी राज्य-की तरह ही पृथ्वीपर मनुष्य जातिके शरीरवत् है। यह मानी हुई बात है, कि राज्यका राजनीतिक शासन मनुष्यके धार्मिक जीवनका निर्णायक नहीं है और न वह व्यक्तियो-के अन्तःकरणकी स्वतन्त्रता और व्यक्तियोंके धार्मिक विश्वासपर ही सङ्कट उपस्थित कर सकता है। दूसरी बात यह है, कि राज्य में मानवीय विशेषता होनेका ही यह अर्थ नहीं है, कि उसका व्यक्तियोपर पूर्ण आधिपत्य है। प्रत्येक मनुष्यमें दो प्रकारकी प्रकृतियां पायी जाती है, एक वैयक्तिक और दूसरी मानवजाति-सम्बन्धी। राज्यका आधार मनुष्यकी प्रकृतिपर है, पर वह उस प्रकृतिपर नहीं जो करोड़ो व्यक्तियोंमे भिन्न-भिन्न रूपसे दृष्टिगोचर होती है, बल्कि वहींतक जहांतक कि मनुष्य जातिकी सर्वीय

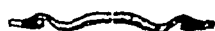
प्रकृति एक रूपमें दिखाई पड़ती है। इसीसे राज्यका अधिकार उतना ही है, जितना मनुष्यजातिके साधारण हितके लिये वह आवश्यक है। जब राज्य अन्यायसे वैयक्तिक स्वतन्त्रतापर आघात करता है तो वह अपने कानूनका पालन करानेमें समर्थ नहीं होता, क्योंकि वह व्यक्तियोंकी आत्माको बन्धनमें डाल नहीं सकता और उसका वध कर नहीं सकता।

जब मनुष्य साधारण शरीर और आत्माके संयोगसे बना हुआ है तब यह स्वाभाविक ही बात है कि, उसकी प्रवृत्ति दोनोंकी उन्नतिकी ओर हो। इसीलिये हम हिन्दू शास्त्रमें लौकिक अभ्युदयके साथ ही पारलौकिक मुक्तिका उद्योग करना मनुष्यका कर्त्तव्य बताया हुआ पाते हैं। सभी जानते हैं, कि मनुष्यका इतना बड़ा हाड़मांसका बना शरीर नश्वर और इसके भीतर निवास करनेवाली आत्मा अविनाशी है। अर्थात् एकका मुख्य सम्बन्ध लौकिक और दूसरेका पारलौकिक उन्नतिसे है। परन्तु जबतक इन दोनोका संयोग न हो तबतक मनुष्य नहीं बन सकता और बिना मनुष्य बने लौकिक और पारलौकिक दोनो ही प्रकारकी उन्नति असम्भव है। इसीसे संसारके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे पता चलता है, कि मनुष्यजाति दो प्रकारकी उन्नतियां करनेमें सदा लगी रहती है। एक ओर तो संसारमे रहनेके कारण सब मनुष्योकी प्रकृतियोंमे जो साधारण विशेषताएं पायी जाती

हैं वे उन्हें कुल मानवजातिके सङ्गठनकी ओर प्रवृत्त करती हैं और क्रमशः राज्यरचना करनेके वाद उनकी इच्छा सार्वभौम राज्यकी रचना करनेकी ओर दिखाई पड़ती है। इसी तरह दूसरी ओर जो सव मनुष्योंमें आत्मिक विशेषताएं पायी जाती हैं वे कुल मानवजातिको अन्तमें एक आत्मिक विचार अर्थात् धर्मके सूत्रसे संयुक्त करनेकी ओर मनुष्यको प्रवृत्त करती हैं। इसीसे हम देखते है कि, अनादि कालसे जिस प्रकार मनुष्योंकी रुचि एक सार्वभौम राज्यकी सिद्धि प्राप्त करनेकी ओर रही है उसी प्रकार उनकी यह भी इच्छा रही है कि, कुल मनुष्यजाति एक धर्मसूत्रसे जुड़ जाय अर्थात् सारे संसारका एक ही धर्म हो। जव आत्मा और पार्थिव शरीरके संयोग विना मनुष्य वन ही नहीं सकता तव यह कोई आश्चर्य्यकी वात नहीं है कि, लौकिक उन्नतिका सर्वोच्च उद्देश्य सार्वभौम राज्यकी रचना द्वारा कुल मनुष्य जातिका संगठन करना होनेके साथही मनुष्यका सर्वोच्च पारलौकिक उद्देश्य सार्वभौम धर्मद्वारा भी कुल मनुष्य जातिका संगठन करना है। दोनोही सर्वोच्च उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये शताव्दियोंसे मनुष्योंकी चेष्टाएं हो रही हैं, पर अभीतक किसीमें भी पूर्ण सफलता नहीं हुई है। परन्तु जिस प्रकार सार्वभौम राज्य होना सम्भव है इसी प्रकार एक सार्वभौम धर्मका होना भी असम्भव नहीं है। इसी विश्वासपर संसारके सभी प्रकारके धार्मिक विचारवाले ही

निरन्तर यह चेष्टा किया करते हैं कि हमारे धार्मिक विचारों या मतका कुल मनुष्यजातिमें प्रचार हो जाय और पृथ्वीके कुल मनुष्य हमारे ही मतका अवलम्बनकर आत्मिक उन्नति करते हुए मनुष्य जन्म सफल करें। अभीतक किसी मतको अपने इस उद्देश्यमें सफलता नहीं हुई है इसका कारण यही कि, अपने मतका कुल पृथ्वीके मनुष्योंको अनुयायी बनानेकी इच्छा रखनेवाले लोग उसके प्रचारके समय मनुष्य-जातिकी प्रकृति भूल जाते हैं और जहां उन्हें अपने मतके सिद्धान्तोंसे मिलते जुलते हुए दूसरे मतवालोंके सिद्धान्तोंको लेकर उनसे दृढ़ ऐक्य स्थापित करनेका मुख्य प्रयत्न करना चाहिये वहां वे दोनों मतोंके परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों-मेंसे अपने सिद्धान्तके मनवानेका प्रयत्न करते हैं जिसके फल-स्वरूप वे दूसरे मतवालोंके हृदयमें अपने प्रति द्वेषभाव पैदा-कर अपने सिद्धान्तसे कोसों दूर जा पड़ते हैं। जो हो, सभी अपने मतका सार्वलौकिक प्रचार करनेका उद्योग करते आये और करते रहेंगे, पर कोई नहीं कह सकता कि कबतक उन्हें सफलता प्राप्त होगी। हमारा अपना निजका विचार तो यह है कि जिस प्रकार लौकिक उन्नति करते हुए मनुष्य आत्मिक या पारलौकिक उन्नति करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार सार्व-लौकिक धर्मके भी स्थापित होनेमें कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। अस्तु, हम प्रसंगवश इस विषयमें इतना ही कह कर अपने विषयकी ओर आना चाहते हैं।

दूसरा अध्याय।



१—मनुष्योंके जातिभेद।



जैसा हम पहले कह आये हैं, अभीतक मनुष्यजातिको सार्वभौम साम्राज्य स्थापन करनेमें सफलता नहीं हुई है। धार्मिक दृष्टिसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् संसारकी कुल मनुष्यजाति एक कुटुम्बके समान है। इसीसे संसारके सभी मतोंके लोग मनुष्योंको एकही परमात्माके पुत्र मानते हैं। सभ्य लोग मनुष्य जातिका यह ऐक्य छोटी जातियों और जंगली जातियोंके सम्बन्धमें भी मानते हैं। यही कारण है कि, भारतवर्षके आर्य्योंने मनुष्योंमें सर्वोत्तम समझनेवाले ब्राह्मण और सबसे हीन अवस्थाके शूद्रको एकही शरीरके दो अङ्ग माने हैं और शरीरके ठीक कार्य्यनिर्वाहके लिये दोनों अङ्गोंका पारस्परिक अटूट सम्बन्ध आवश्यक ठहराया है। आजकल-की सभ्य कहानेवाली जातियां तो जातिपांतिका कुछ भी भेद नहीं मानतीं और जो जातियां यह भेद मानती हैं वे उनकी दृष्टि-मे सभ्य ही नहीं समझी जाती हैं। जब मनुष्यमात्र एकही परम पिताकी सन्तान हैं तो उनकी अनेक जातियां कैसे हुईं,

यह प्रश्न है, जो सर्वसाधारणके हृदयमें स्वभावतः उत्पन्न होता है। कितने ही लोगोंका सिद्धान्त है कि, जब सभी मनुष्य एकही परम पिताकी सन्तान हैं, तो यह हो नहीं सकता कि भिन्न भिन्न मनुष्योंकी मेधाशक्ति तथा योग्यता भिन्न भिन्न प्रकारकी हो ; और इसीसे उनकी धारणा है कि मनुष्योंके जो जाति-भेद देखनेमें आते हैं ये प्राकृतिक नहीं, बल्कि मनुष्योंके ही पैदा किये हुए हैं। परन्तु प्राचीन कालसे आर्य्योंका विचार इससे भिन्न रहा है। उनकी धारणा सदासे यही रही है कि, पूर्व जन्मके कर्मानुसार मनुष्यजन्म होता है। जब सबके पूर्व जन्मके कर्म एकसे नहीं होते हैं, तब उनके फल एकसे कैसे हो सकते हैं ? यही कारण है कि, सब मनुष्योंकी शरीर-रचना एकसी होनेपर भी योग्यता और मेधाशक्ति एकसी नहीं है। आजकी सभ्य कहानेवाली कितनी ही ऐसी जातियां हैं जो पूर्व जन्म मानती ही नहीं, परन्तु ये जातियां भी स्वीकार करती हैं कि, सभी मनुष्य एक प्रकार ही मेधावी और योग्य नहीं बनाये गये हैं। सच पूछिये तो मानवजातिका इतिहास भी जातिभेदका साक्षी दे रहा है। कितनी ही जातियां ऐसी हैं जो सदासे ही गिरी अवस्थामें रहती चली आयी हैं और ऐसा भी देखा जाता है कि, उन्नतिशील जाति-योंके सङ्गमें पड़कर भी वे उनकी श्रेणीमें पहुचनेमें असमर्थ सिद्ध हुई हैं। अवश्य ही इस जातिभेदका एक मूल कारण रङ्गभेद भी है जो प्रकृतिसे सम्बन्ध रखनेवाला है। दो भिन्न

रङ्गके मनुष्योंके संमिश्रणसे तीसरा रङ्ग भी पैदा हो जाता है और जहांतक इस प्रकारके संमिश्रणका मनुष्यसे सम्बन्ध है वहां-तक यह रङ्गभेद एक प्रकारसे मनुष्यकी अपनी ही रचना कहा जा सकता है। पर गम्भीर विचार करनेसे पता चलता है कि, पृथ्वीके स्थान विशेषकी जलवायुपर ही वहांके निवासियोंका रङ्ग अवलम्बित है। जलवायु ईश्वरीय रचना है इसलिये उससे पैदा हुआ परिणाम भी मनुष्यकी रचना नहीं समझा जा सकता। इस जलवायुका प्रभाव मनुष्यकी योग्यता, मेधा-शक्ति आदिपर भी बहुत कुछ पड़ता है। यही कारण है, कि अत्यन्त ठण्डे और अत्यन्त गरम देशोंके निवासी बहुत अधिक उन्नति नहीं कर पाते और भिन्न भिन्न देशोंकी जलवायु-के अनुसार वहांके निवासियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके गुणोंकी वृद्धि होती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न गुणों और रूप रङ्गके कारण मनुष्योंकी भिन्न भिन्न प्रकारकी जातियां बनती हैं और भिन्न भिन्न जातियोंके संयुक्त हो जानेसे राष्ट्र बनते हैं। जातियोंकी रचनामें प्रकृतिका बहुत बड़ा हाथ है, पर राष्ट्र मनुष्यकी रचना है। जातियोंका संयोग और विभेद समय समयपर होता रहता है इसीसे पुराने राष्ट्रोंकी जगह नये राष्ट्र बनते रहते और संसारके इतिहासमें भिन्न भिन्न प्रकारके राष्ट्रोंकी रचना पायी जाती है।

२—राष्ट्र और जनता।

किसी भी देशके निवासी प्रायः दो रूपमें देखे जाते हैं। उनका एक रूप तो ऐसा है जिसके देखनेमें उनकी राजनीतिक अवस्था एकदम ध्यानसे बाहर रखनी पड़ती है। उनका स्वरूप देखनेमें विशेष कठिनाई नहीं हो सकती, क्योंकि उनकी एक भाषा और एकही प्रकारकी रीतिरिवाजके द्वारा वह सहज ही पहचाना जा सकता है। उनके इसी स्वरूपका नाम जनसाधारण या सर्वसाधारण या जनता है। अंग्रेजी भाषामें इस स्वरूपका नाम पीपुल (People) है। किसी देशमें तरह तरहके कारबार करनेवाले और भिन्न भिन्न सामाजिक स्थितिके बहुतसे लोग जो वंश परम्परासे एकही प्रकारके भाव, विचार और जातिके होते हुए साथ साथ निवास करते और मुख्यकर भाषा तथा रीतिरिवाजके बन्धनोंसे परस्पर बंधे होते हैं और जिनकी सभ्यता एक ही प्रकारकी होती है, वे उस देशकी पीपुल (People) या जनता या लोग कहाते हैं। सबलोग एकही सभ्यताके भीतर रहते हैं और वही सभ्यता उनके हृदयमें उन्हें दूसरे देशवालोंसे भिन्न सिद्ध करती और उनके हृदयमें ऐक्यका भाव पैदा करती है। इस प्रकार एक देशके लोग एकही सभ्यता तथा भाषा और रीतिरस्मके बन्धनोंसे बंधे होनेके कारण दूसरे देशके दूसरी सभ्यता, भाषा तथा रीति-रस्मवालोंसे भिन्न रहते हैं। इन लोगोंमें अगर न किसी

देशकी जनताके लोगोंमें जो ऐक्यका भाव रहता है वह राज्य-सम्बन्धी किसी बन्धनके कारण नहीं होता। यही नहीं, जनता शब्द जब किसी राज्यके सम्बन्धमें काममें लाया जाता है अर्थात् जब हम यह कहते हैं, कि अमुक राज्यकी जनता, तब इस शब्दके भीतर उस राज्यके भीतर रहनेवाले जनसाधारणका बोध होता है, राज्यके शासक इस शब्दके भीतर नहीं आते हैं। अंग्रेजीके पीपुल (People) शब्दकी ही जोड़का अंग्रेजी भाषामें एक शब्द नेशन (Nation) है जिसका अर्थ हमारी भाषामें राष्ट्र या जाति शब्दसे किया जाता है। नेशन या राष्ट्र शब्दके भीतर भी देशके निवासी आ जाते हैं, किन्तु यह शब्द सभ्यता, भाषा या रीतिरसम-सम्बन्धी ऐक्य प्रकट करनेवाला नहीं है। राष्ट्र शब्दसे मुख्यकर राज्यसम्बन्धी ऐक्यका बोध होता है। जनसाधारणके उस समाजका नाम राष्ट्र है जिसमें राज्यके वे सबलोग आ जाते हैं जिनसे राज्यका ऐक्य और संगठन होता है। नेशन (Nation) या राष्ट्र तभी होता है जब राज्यकी रचना हो चुकती है। राष्ट्र शब्दके भीतर राज्यमें रहनेवाले लोगोंके साथ ही शासक भी आ जाते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि, राष्ट्रका राज्यसे इतना घना सम्बन्ध है कि, हम कह सकते हैं कि जबतक राज्य नहीं, तबतक राष्ट्र नहीं। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि जबतक राष्ट्र नहीं तबतक राज्य नहीं। कारण यह कि, जिस देशमें विदेशियोंका राज्य होता है और देशवासी उस राज्यसे सन्तुष्ट नहीं होते, वहां उनके

हृदयोंमें राज्यसम्बन्धी उस ऐक्यका भाव पैदा ही नहीं हो सकता जो राष्ट्र बननेके लिये आवश्यक होता है। विदेशीकी जगह यदि स्वदेशी ही राजा हो, किन्तु वह देशवासियोंकी इच्छाके अनुसार शासनकार्य न करता हो, तो ऐसे देशमें भी राष्ट्रका बनना असम्भव है। कारण यह है कि, राष्ट्र शब्द तो उसी राज्यके लोगोंके लिये प्रयुक्त हो सकता है जहां उनमें राजनीतिक सम्बन्धके कारण ऐक्य हो जिस तरह 'जनता'में एक सभ्यताके भीतर रहनेसे मुख्यकर भाषा और रीतिरसम सम्बन्धी ऐक्य होता है। जिस देशमें विदेशियोंका राज्य होता है, वहां इस प्रकारका राज्यसम्बन्धी ऐक्य होना या राष्ट्रका बनना प्रायः असम्भव ही होता है। कारण यह कि, विदेशी शासन बिल्कुल ही अस्वाभाविक होता है। संसारमें कोई भी ऐसा नहीं है जो पराधीनतासे प्रसन्न रहता हो। सभी स्वाधीन रहना पसन्द करते हैं, इसलिये जब किसी दूसरे देशके लोग किसी देशपर किसी न किसी प्रकार अधिकार जमा लेते हैं, तो उस देशके लोग अनेक प्रकारकी लाचारीके कारण उन विदेशियोंकी अधीनतामें रहते तो हैं, पर विदेशी शासकोंसे उनके मन कभी नहीं मिलते जिससे विदेशी शासकों और उस देशकी जनताके बीच वह राजनीतिक ऐक्य कदापि नहीं पैदा हो सकता जिसके कारण 'राष्ट्र'की सृष्टि हुआ करती है। यही अवस्था उन राज्योंकी हुआ करती है जिनके अधिपति स्वदेशके ही होते हैं, किन्तु जो राज्यप्रबन्ध या शासन देशवासियोंकी इच्छाओंके

अनुकूल नहीं, स्वेच्छाचारितासे किया करते हैं। इस अवस्थामें भी देशवासियोंके मन शासकोंसे नहीं मिलते, इसलिये राज्य-सम्बन्धी ऐक्यके लिये उनके मनमें कभी उत्साह ही नहीं पैदा हो सकता। जब राज्यसम्बधी ऐक्य ही नहीं, तब 'राष्ट्र' कहां? नेशन (Nation) शब्दका एक अर्थ अंग्रेजी भाषामें और होता है। जो लोग एक ही जातिके या एक ही वंशके हैं, वे भी अपनेको नेशन कहते हैं जैसे जर्मनीके निवासी अपनेको एक नेशन बताते हैं। इस अर्थमें प्रयोग होनेपर नेशनका अर्थ हमारी भाषामें 'जाति' होता है।

ऊपर जनता और राष्ट्रका जो विवेचन किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि, प्रत्येक देशके निवासियोंमें दो प्रकारके ऐक्यके भाव हुआ करते हैं। पहला भाव तो 'जनता' सम्बन्धी होता है अर्थात् लोग एक भाषा-भाषी होने, एक ही तरहकी रीतिरसम काममें लानेवाले होने तथा एक ही सभ्यताके भीतर रहनेसे एक प्रकारके भाव और विचारके होते हैं जिससे राज्यसम्बन्धी बंधनके बिना भी उनमें पारस्परिक ऐक्यका भाव होता है। दूसरा भाव 'राष्ट्र' सम्बन्धी हुआ करता है अर्थात् सबलोग एक ही राज्यके अंग होनेसे उस राज्यको अपनाही समझते हैं, इसलिये सबके हृदयमें एक दूसरेके प्रति राजनीतिक सम्बन्धका भाव पैदा हो राज्यसम्बन्धी ऐक्यकी जड़ जमती है। जब सभी लोग इस प्रकारके राजनीतिक सम्बन्धसे सम्बद्ध हो जाते हैं, तब स्वभावतः उनके हृदयमें अपने राज्यको सर्वश्रेष्ठ

बनानेकी अभिलाषा पैदा होती और राज्यकी उन्नतिके लिये वे सब तरहके त्याग करनेको सहर्ष तैयार हो जाते हैं। अपनेके लिये संसारमें कौनसा त्याग है जिसे करनेको मनुष्य तैयार नहीं होता? 'जनता' सम्बन्धी ऐक्य और 'राष्ट्र' विषयक ऐक्य दोनों पृथक् पृथक् भी बड़ी भारी शक्ति रखनेवाले हैं, किन्तु जिस देशके निवासियोंमें दोनों ही प्रकारका ऐक्य विद्य-मान हो, उसकी शक्तिका तो फिर कहना ही क्या? जिस 'राष्ट्र' की कुल जनता या उसका अधिकांश एक है, उसमें स्वभावतः उस राष्ट्रसे अधिक ऐक्य और इसलिये अधिक शक्ति—क्योंकि ऐक्यमें ही शक्ति है—होगी जो कई जनताओंसे मिलकर बना है जिससे वह कम शक्तिवाला होता है।

जनताकी रचनामें कई शक्तियां काम करती हैं जो सर्वसाधा-

धीरे उनकी भाषाओंमें भेद होता गया, तब एक देशमें बसनेवाले लोग दूसरे देशोंमें बसनेवाले लोगोंकी भाषा दूसरी होनेसे उन्हें अपनेसे भिन्न समझने लगे और मानव जाति क्रम क्रमसे अनेक जनताओंमें बंटती गयी। धार्मिक विश्वास भी मध्यकालमें जनताओंके बनाने और एकको दूसरेसे अलग करनेका प्रधान कारण हुआ है। इतिहासमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि, एक वंशके पैदा हुए, एक ही स्थानपर बसनेवाले और एक ही भाषा बोलनेवाले लोगोंमें भी परस्पर इसी-लिये लड़ाइयां हुई कि सबके धार्मिक विश्वास एक नहीं थे अतः एक धर्मपर विश्वास रखनेवाले लोग दूसरे धर्मोंपर विश्वास रख-नेवालोंको अपनेसे भिन्न और विदेशी समझते रहे जिससे एक-की अनेक जनताएं बनीं। पहले हम कह आये हैं कि, जनता-ओंकी विशेषताएं उनकी सभ्यताएं होती हैं। इससे सहज ही परिणाम निकल सकता है कि, जिस जनताकी सभ्यता दूसरी जनताकी सभ्यतासे प्रबल होगी वह बहुत दिनोंके सम्पर्कके बाद निर्बल सभ्यतावाली जनताको अपनेमें मिला लेगी। एक जनता दूसरे देशकी जनतामें अपनी भाषा और रीतिरस्मका विस्तार करके भी उसे अपनेमें मिला सकती है। ये ही कारण हुआ करते हैं जिनसे उच्च सभ्यतावाली जनता धीरे धीरे असभ्य जनतापर अपना प्रभाव जमा अपनेमें मिला लिया करती है। इससे स्पष्ट है कि, जनताओंका रूप और आकार सदा एकसा नहीं रहता और उपर्युक्त कारणोंसे घटता बढ़ता है।

जनताकीसी ही दशा राष्ट्रकी भी है। राष्ट्र जनतासे एक बड़ी भारी विशेषता रखता है और वह यह है कि, इसमें अधिकारोका ऐक्य इस प्रकार बढ़ता है कि, लोगोंको उसका पता चलता रहता है और राज्यका कार्य चलानेमे इसकी सार्वजनिक इच्छाशक्ति प्रकट करने और कार्योंद्वारा उसे बनाये रखनेकी योग्यता प्रकट होती है। सारांश यह कि, राष्ट्र जनसमूहका राजनीतिक शरीर है। जब राष्ट्र एक शरीरकी भांति है तब व्यक्तियोंकी भांति राष्ट्रोंके भी अपने अपने भाव और इच्छाशक्ति होती है। कोई राष्ट्र जब अपना देश छोड़ दूसरे देशमे जा बसता है तब भी वह राष्ट्र समझा जा सकता है, किन्तु अस्थायीरूपमे। हां; यदि वह नये देशमे भी नया राज्य स्थापित कर सके, तो फिर वह स्थायी बना रह सकता है। जनतामे जब राज्यसम्बन्धी जीवनका भाव बहुत दृढ़ हो जाता है तब संगठनका ऐक्य राज्यस्थापनके लिये मार्ग बना देता है और उस अवस्थामें राष्ट्र राज्यसे पहले बना हुआ जान पड़ता है।

३—राज्य और जनता।

एक राज्यके भीतर अनेक जनताएं हो सकती हैं। ऐसी दशामें स्पष्ट है कि, राज्यको व्यवस्थाके सम्बन्धमें केवल एक जनताका नहीं, वरं कुल जनताओंका ध्यान रखना होता है। इस तरह व्यवस्थाके सम्बन्धमें जनताकी अपेक्षा राष्ट्रका

अधिकार अधिक प्रबल है। परन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं है कि राज्य जनताकी इच्छाओंका सदा उपमर्द करता रहे। इसके विरुद्ध राज्यका यह मुख्य कर्तव्य है कि, वह जनताके उन अधिकारोंमें बिल्कुल ही हस्तक्षेप न करे जो उसे स्वभावतः प्राप्त हैं या यदि राष्ट्रके हितके लिये किसी अधिकारके सम्बन्धमें उसे हस्तक्षेप ही करना पड़े, तो वहाँतक करना चाहिये जहांतक जनताका वह अधिकार कुल राष्ट्रका अहित करनेवाला हो। उदाहरणकी भांति भाषाहीका प्रश्न लीजिये। भाषा जनताकी सबसे अनूठी सम्पत्ति है, क्योंकि जिन लोगोंसे मिलकर वह बनी है उनमें ऐक्य—स्थापनके लिये यह सबसे मजबूत बंधन है। भाषा ही एक मुख्य साधन है जिसके द्वारा जनताका चरित्र व्यक्त होता है। इसी कारणसे कोई राज्य किसी जनताको उसकी भाषा और साहित्यसे नहीं वंचित कर सकता। यदि कोई राज्य किसी जनताकी भाषाको दबाकर उससे कोई विशेष भाषा जबर्दस्ती अंगीकार करानेकी चेष्टा करता है, तो वह अपनी शक्तियोंका भारी दुरुपयोग करता है। राज्यकार्यके लिये राज्यकी सभीके लिये एक भाषा प्रचलित करनेकी आवश्यकता हो सकती है। पन्तु वैसा करते समय राज्यको इस बातका अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि, राज्य-कार्यके लिये जहांतक सम्भव हो कोई विदेशी भाषा न प्रचलित की जाय। कारण यह कि, स्वदेशी भाषाके स्थानपर विदेशी भाषाका प्रयोग होते देख जनसाधारणको बहुत अधिक दुःख होता है और

सभ्य जातिवालोंको राज्यका यह कार्य बड़ा अन्यायपूर्ण जँचता है। किसी विदेशी भाषाकी अपेक्षा यदि कोई स्वदेशी भाषा राज-भाषा बनायी जाय, तो देशके जो लोग उस भाषाके नहीं हैं, वे भी इतना अन्याय नहीं समझते जितना कोई विदेशी भाषा प्रच-लित करनेसे समझते हैं। भाषाके सम्बन्धमें राज्यका मुख्य कर्त्तव्य तो यह है कि, वह किसी जातिकी भाषा दबानेके स्थान-में स्कूलोंमें भिन्न भिन्न भाषाओंकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करे जिससे लोगोंको अनेक भाषाएं सीखने और उनके द्वारा उनके साहित्य तथा उन भाषाओंको काममें लानेवालोंके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान प्राप्त करनेका सुभीता हो। भाषाकी तरह ही जन-ताको अपनी रीतिरस्म और व्यवस्थाकी रक्षा करनेका भी अधिकार है। किन्तु साथ ही राज्यको भी अधिकार है कि, यदि किसी जाति-विशेषकी कोई रीतिरस्म या व्यवस्था ऐसी है जो मानव जातिके उच्च सदाचार और सभ्यताके विरुद्ध है, तो कुल राष्ट्रके हितके लिये उसका उचित प्रतिबन्ध करे। किसी एक जनताके हितकी अपेक्षा कुल राष्ट्रके हितका ध्यान रखना राज्यका मुख्य कर्त्तव्य है। इसलिये उसे ऐसी

या रीतिरस्म किसी जाति विशेषमें प्रचलित है और उससे किसी दूसरी जाति या कुल राष्ट्रका अहित न हो, उसके सम्बन्धमें राज्यको हस्तक्षेप करनेसे बचना चाहिये।

४—राज्य और व्यवस्था।

राज्यका कार्य उसकी व्यवस्था या कानूनसे चलता है। परन्तु राज्य किसी व्यक्ति विशेषका नहीं, कुल राष्ट्रका प्रतिनिधि है। इसलिये उसकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिससे कुल राष्ट्रका एक समान हित हो। राज्यकी सबसे बड़ी शक्ति न्याय है। जबतक किसी राज्यमें बसनेवालोंको इस बातका निश्चय रहता है कि, राज्य जो कुछ व्यवस्था करता है वह न्यायपूर्वक सबके हितको दृष्टिमें रखकर करता है, तबतक सभी लोग उसके भक्त बने रहते हैं। किन्तु जिस समय लोगोंको राज्यकी निष्पक्षताके विषयमें सन्देह हो जाता है; उसी समय उनकी श्रद्धा और भक्ति राज्यसे एकदम उठ जाती है जिसका फल यह होता है कि, उसकी व्यवस्था या कानूनके सम्बन्धमें लोगोंको भारी सन्देह हो जाता है। राज्यके पास शक्ति होती है जिसके बलसे वह लोगोंपर अन्यायपूर्वक पक्षपात-पूर्ण कानूनद्वारा भी शासन कर सकता है, किन्तु उसके अन्याय और पक्षपातके कारण देशवासियोंमे भीतर ही भीतर इतना

असन्तोष बढ़ता जाता है कि, कुछ ही दिनोमें वे राज्यके विरोधी बन जाते हैं जिससे राज्यकी शक्ति घट जाती और वह नाशको प्राप्त होजाता है। इसीसे राज्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है, कि वह अपने कानून ऐसे बनाये जो राज्यके कुल लोगोके लिये हों। परन्तु व्यवस्था या कानून बनाते समय राज्यको केवल यही एक बात ध्यानमें रखनेकी नहीं है। जिस प्रकार एक शिल्पकार सुन्दर महल बनानेके पहले भली भांति परीक्षा करके यह देख लेता है कि जिस भूमिपर महल बनाना है वह उसका भार संभाल सकती है या नहीं, इसी प्रकार कानून बनाते समय राज्यको भी ध्यान रखना चाहिये कि, जो कानून लोगोंके लिये बनाये जा रहे हैं वे उन्हे सह्य भी हो सकते हैं या नहीं। इसका कारण यह है, कि कभी कभी कोई कानून अच्छा होता है, तो भी लोग उसे स्वीकार करनेसे हिचकते है, क्योंकि लोगोंमें एक वार कोई रीतिरसम चल पड़ती है, तो वह सहज ही नहीं मिटायी जा सकती, चाहे कितनीही बुरी क्यों न हो। इसीसे प्रायः देखनेमें आता है, कि बुरी रसम दूर करनेके लिये जो सुधारक प्रयत्न करते हैं उनपर अनेक संकट उपस्थित हुआ करते हैं। जिस प्रकार एक मूर्ख रोगी रोग-निवारणार्थ आये हुए डाक्टरको देख कांप उठता है, इसी प्रकार लोग भी यह नहीं सह सकते कि उनकी बुरी रसमें भी मिटायी जायँ। इसीसे राज्यको उचित है, कि कोई कानून बनानेके पहले राज्यमें बसनेवाले लोगोंकी राय अपने पक्षमें करले जिनके लिये वह

कानून वनाने चला है। जो कानून लोगोकी सम्मति विना उनकी इच्छाके विरुद्ध वनाया जायगा वह न तो लोगोका ही हित कर सकेगा जिनके लिये कानून वनाये जाते हैं, और न राज्य ही सिवा हानिके उससे कोई लाभ उठा सकता है। यही कारण है कि, सभ्य और उन्नत राज्य कानून वनानेका अधिकार स्वयं उन लोगोंके ही हाथमें छोड़ देते है जिनके लिये कानून वनाये जाते हैं और अपने हाथमें उनके वनाये हुए कानूनोका केवल सर्वसाधारणसे ठीक ठीक पालन करानेका काम रखते हैं। जिस राज्यमें ऐसा नहीं होता और राज्यकी ओरसे जन-साधारणकी इच्छाके विरुद्ध कानून वनाये जाते हैं, वह राज्य जनप्रिय तो रह ही नहीं सकता, साथ ही ऐसे कानूनको लेकर जनसाधारण और राज्यमे भारी संघर्ष पैदा हो जाता है। एक ओर तो ऐसा कानून वना राज्य लोगोसे उसके पालन करानेके लिये अपनी सारी शक्ति काममें लाता है और दूसरी ओर जनसाधारण राज्यकी स्वेच्छाचारितासे कुपित हो यथाशक्ति उस कानूनको निष्फल करनेके प्रयत्नमें लग जाते हैं। जिस राज्य और वहांके जनसाधारणके वीच ऐसा कठिन संघर्ष हो वहां कैसे व्यवस्था रह सकती है और किस तरह वह राज्य चिरस्थायी हो सकता है?

५—राज्य और दगड ।

राज्यके हाथमें जिस प्रकार कानून वनाने तथा उसका लोगोंसे पालन करानेका अधिकार है उसी प्रकार न्यायानुकूल विचारके पश्चात् उन कानूनोके तोड़नेवालोको दंड (सजा) देनेका भी अधिकार होता है। जैसे न्यायानुकूल कानून न वनाने या उसका प्रयोग न करनेसे राज्यसे लोगोंकी भक्ति उठ जाती है, वैसे ही उसके अन्यायपूर्वक दंडकी व्यवस्था करनेसे जन-साधारणमें घोर असंतोष और अशान्ति पैदा होती है। यदि जनसाधारणके हित और राष्ट्रकी सुव्यवस्थाके लिये वने हुए कानूनोका ठीक ठीक पालन न कराया जाय और जो जैसा चाहे वैसा ही आचारण करने लगे, तो व्यवस्था कदापि नहीं वनी रह सकती और बिना व्यवस्थाके राज्य भी नष्ट भ्रष्ट हो जाय। इसीलिये जहां राज्यका प्रधान कर्त्तव्य यह बताया गया है, कि वह राष्ट्रकी सुव्यवस्थाके लिये जनसाधारणकी सम्मतिके अनुसार पक्षपातरहित न्याययुक्त कानून बनावे, वहां उसका यह भी मुख्य कर्त्तव्य है, कि उन कानूनोका प्रमादरहित हो पालन भी करावे। इसीसे राज्यको कानून तोड़नेवालोंको यथोचित दंड देनेका भी पूर्ण अधिकार प्राप्त है। कारण यह कि, यदि अपराधियोंको दंड देनेमें थोड़ा भी आलस्य किया जाय, तो अति बलवान् लोग निर्बलोंको नूच डालें। परन्तु जिस प्रकार न्याययुक्त कानून बनानेसे ही राज्यके प्रति जनसाधारणकी भक्ति

और प्रतिष्ठा होती है, वैसे ही राज्यकी ओरसे न्यायपूर्वक दंडकी व्यवस्था होनेसे लोगोंमें सन्तोष और अन्यायपूर्वक होनेसे असन्तोष पैदा होता है। अपराधीको दंड देना अति आवश्यक है, क्योंकि वैसा न करनेसे उसका साहस बढ़ जायगा और वह भविष्यमें और भी अधिक अपराध करने लगेगा। फल यह होगा कि, उसकी देखादेखी दूसरे लोग भी कानूनकी मर्यादा उल्लंघन करने लगेंगे और राज्यमें अराजकता विराजने लगेगी, जिससे राज्यका नाश होना अवश्यम्भावी है। सच तो यह है कि राज्यके हाथमें जो दंड देनेके अधिकार हैं, उन्हींके भयसे किसीको सहसा कानून तोड़कर अपराध करनेका साहस नहीं होता और राज्यकी व्यवस्था ठीक रहती है। संसारमें प्रायः सभी जानते हैं, कि चोरी करना, डाका मारना, हत्या करना, झूठ बोलना आदि पापकार्य हैं। परन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं जो स्वभावसे ही पापकार्योंसे दूर रह सन्मार्गमें चलते हैं? विचार कर देखा जाय, तो इनेगिने ही लोग होंगे जो स्वभावसे ही पापकार्यसे दूर रहते हैं। और सब लोग तो राज्यदंडके भयसे ही पापकार्यों से बचते हैं। इसीसे स्मृतिकारका कहना है कि, "दंड ही सम्पूर्ण प्रजाका शासन करता है, दंड ही रक्षा करता है, सबके सोते हुए दंड ही जागता है अर्थात् उसीके डरसे अपराधी अपराध नहीं करते हैं। इसीसे विद्वान् लोग दंडको धर्म जानते हैं।" परन्तु जिस प्रकार इतना दिव्य और लाभदायक पदार्थ दुग्ध सांपके मुँहमें पड़नेसे विष बन जाता है,

ठीक उसी प्रकार अन्यायी और अधर्मीके हाथ दंडाधिकार पड़नेसे वह लाभके स्थानमें सर्वत्र ही नाशका कारण होता है।

जैसे राज्यका कर्त्तव्य है कि, वह अपराधियोंको समुचित दंड दिलानेका पूरा प्रबंध करे, वैसे ही उसे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि, उस दंडद्वारा अपराधियोंके स्थानमें निरपराध लोग न दंडित हो सकें। यही नहीं, नीतिज्ञोंका कहना है, कि एक अपराधीको दंड दिये विना छोड़ देनेमें राज्यकी उतनी हानि नहीं होती जितनी एक निरपराध व्यक्तिको दंड मिलनेसे होती है। कारण यह कि, एक अपराधीको यदि दंड नहीं मिलता तो अधिकसे अधिक हानि यही हो सकती है, कि वह फिर अपराध करे; किन्तु उसका जनसाधारणपर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता, क्योंकि जो कोई अपराध करता है तो वह प्रायः लोगोंकी आंख वचाकर ही करता है और उसके अपराधका वहुत ही कम लोगोंको पता होता है। इससे उसे यदि राज्यकी ओरसे दंड न मिले तो लोगोंकी यही धारणा होगी कि, वास्तवमें इसने कोई अपराध नहीं किया था इसीसे दंड पानेसे वच गया है। परन्तु इसके विरुद्ध जव किसी निरपराध व्यक्तिको राज्यकी ओरसे दंड मिलता है, तो केवल दंडित व्यक्तिके ऊपर ही अन्याय नहीं होता है, वल्कि उस अन्यायका जनसाधारणपर राज्यके लिये वडा बुरा प्रभाव पड़ता है। लोगोंकी धारणा हो जाती है कि, राज्यकी ओरसे कोई रक्षित नहीं है, क्योंकि अमुक निरपराध व्यक्तिको आज दंड मिला है, तो कल हम लोगोंमेंसे भी किसी-

की वारी आ सकती है। इस तरह जिस न्याय और रक्षाकी दृष्टिसे मुख्य करके राज्यकी आवश्यकता समझी जाती है, उसीपरसे लोगोंका विश्वास उठने लगता है और सभी लोग अपनेको अरक्षित समझने लगते हैं। जव कुछ समयतक इसी प्रकार निर्दोष व्यक्ति अन्यायसे राज्यद्वारा दंडित होते रहते हैं तव धीरे धीरे राज्यके न्याय और रक्षासे लोगोंका विश्वास उठता जाता है और शीघ्र ही वह दिन आ पहुंचता है जव सभी लोग राज्यके विरोधी हो जाते हैं। सर्वसाधारणके विरोधी होनेसे राज्य भी शीघ्र ही नाशको प्राप्त होजाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

६—राज्य और व्यक्ति।

राज्य जिस राष्ट्रका प्रतिनिधि वन उसके लिये शासन व्यवस्था करता है, वह व्यक्तियोंसे वना हुआ होता है। इसलिये आवश्यक है कि, राज्यकी ओरसे जो कानून वनाये जायं या अन्य प्रकारके शासनप्रवन्ध किये जायं, उनमें व्यक्तियोंके हितका पूरा ध्यान रखा जाय। यह वतानेके लिये किसी वड़े हेतु या तर्ककी आवश्यकता नहीं है कि, हम अपना हित जितना स्वयं सोच सकते हैं उतना दूसरा कोई नहीं सोच सकता। इसीसे अच्छे राज्य सदा अपने देशमें वसनेवाले व्यक्तियोंके हित-का ध्यान रख काम किया करते हैं और देशका प्रवन्धकार्य

भी ऐसे ढंगसे करते हैं जिससे वह जनसाधारण या व्यक्तियोकी न्यायोचित इच्छाओंके विरुद्ध न हो। सच पूछिये तो राज्यके उस कानून और व्यवस्थाका कोई अर्थ ही नहीं जो बनाया तो जाता है राज्यके व्यक्तियोंके लिये, परन्तु उनकी राय नहीं पूछी जाती या पूछी भी जाती है तो उचित होनेपर भी स्वीकार नहीं की जाती। संसारमें कोई भी ऐसा कानून नहीं है जो इतना पूर्ण हो कि वह किसी प्रकार तोड़ा ही न जा सके। कानून बनानेवालोंका सदा यह ध्यान रहता है कि, उसका पालन राज्यका प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण रूपसे करे। परन्तु संसार जानता है कि प्रत्येक देशमें कानून तोड़नेके लिये ही प्रतिवर्ष कितने अधिक व्यक्तियोंको राज्यसे दंड मिला करता है। यह अस्वाभाविक नहीं है। कारण यह कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जो दुर्गुण मनुष्यके स्वभावमें आ जाते हैं वे न्याय और धर्मके पथसे उसे विचलित करनेसे कभी नहीं रुक सकते। ऐसी दशामें यह आशा करना तो व्यर्थ है कि, समाज या राज्यमें लोगोंके हितके लिये जो व्यवस्था की जाय उसका पालन प्रत्येक व्यक्ति करेगा।

जितने भी लोग हैं वे सबके सब कोई व्यवस्था बनानेके सम्बन्धमें राय दे सकते हैं, क्योंकि राज्यमें नाबालिग, पागल तथा अन्य प्रकारके और भी लोग होते हैं जो राय देनेकी योग्यता नहीं रखते हैं। जो राय भी देनेवाले हैं वे भी सबके सब एक ही प्रकारकी राय देंगे, यह भी असम्भव है, क्योंकि 'भिन्नेर्हिरुचिर्लोकाः' अर्थात् मनुष्योंकी रुचियां भिन्न भिन्न होती हैं और रुचिकी भिन्नताके साथ ही विचारभिन्नता भी अनिवार्य है। ऐसी अवस्थामें स्पष्ट है कि, चाहे कितनी ही उत्तम व्यवस्था और उद्योग इस बातके लिये क्यों न किया जाय कि जो कोई कानून राज्य बनाये वह राज्यके सभी आदमियोंकी रायके अनुसार हो, परन्तु ऐसा होना असम्भव है। राष्ट्रके व्यक्तियोंके मतभेदकी बात तो एक ओर रखिये, बहुमतसे चुने हुए उनके सब प्रतिनिधियोंमें भी प्रायः कभी पूर्ण मतैक्य नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि राज्यकी ओरसे जो अधिकसे अधिक व्यवस्था हो सकती है वह यही है कि, वह अपने देशके ऐसे लोगोंकी रायसे व्यवस्था बनाये जो राय देनेकी योग्यता रखते हैं। कुल व्यक्तियोंकी राय लेनेका सबसे सुगम और उत्तम मार्ग यही है कि, वह उनके चुने हुए पंचों या प्रतिनिधियोंकी राय लेकर व्यवस्था बनाये। इस प्रकारसे बनायी हुई व्यवस्था कुल राष्ट्रकी बनायी हुई व्यवस्था कही जायगी और जनताद्वारा उसके पालन होनेकी भी सबसे अधिक सम्भावना होगी।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, कोई कानून या व्यवस्था चाहे जितनी भी सावधानीसे लोकमत संग्रह करके क्यों न बनायी जाय, उसे तोड़नेवाले देशमें थोड़े बहुत आदमी अवश्य ही सदा पाये जायेंगे। अन्तर केवल इतना ही होगा कि, जहां राष्ट्रकी राय लिये बिना या उसकी राय और इच्छाके विरुद्ध कोई राज्य कानून बनाता है वहां कानून तोड़नेवालोंकी जितनी अधिकता होती है उतनी व्यक्तियोंद्वारा अर्थात् उनकी रायसे कानून बनानेवाले राज्यमें कदापि नहीं हो सकती है। जिस कानूनके बनानेवाले देशके निवासीमात्र हैं अर्थात् जो कानून राष्ट्रकी सम्मतिसे या राष्ट्रद्वारा बनाया गया है उसे तोड़नेवाला अपराधी, देशद्रोही और अराजक होता है, क्योंकि ऐसाकर वह उस कानूनको तोड़ता है जो उसके तथा उसके देशके अन्य निवासियोंके हितके लिये राज्यमें सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये अधिकांश देशवासियोंकी रायसे बनाया गया है। ऐसे ही अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये राज्यको दण्ड देनेका अधिकार प्राप्त होता है जिसका संक्षेपमें पहले विवेचन किया जा चुका है। राज्यको जो यह दण्डाधिकार प्राप्त होता है यह भी उसी अवस्थामें न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त है जब यह उस राष्ट्रसे प्राप्त हो जिसका प्रतिनिधित्व राजनीतिक बातोंमें वह किया करता है। जिसप्रकार राज्यमें रहनेवालोंका परम कर्त्तव्य है कि वे उस कानूनका सचाई और नेकनीयतीसे पालन करें जो राज्यकी ओरसे सर्वसाधारणद्वारा या उनकी रायसे बनाया गया है, उसी प्रकार उन-

मेंसे प्रत्येक व्यक्तिका भी यह कर्त्तव्य है कि यदि वह स्वार्थवश अपने देशवाशियोंके बनाये हुए किसी कानूनको तोड़ता है, तो उस अपराधके लिये राज्यकी ओरसे दिया जानेवाला वह दण्ड भोगे जिसका अधिकार अपने देशवासियोंके साथ स्वयं उसने ही राज्यको वह कानून बननेके समय ही दे रखा है।

अब प्रश्न यह होता है कि, जो अधिकार मनुष्यको स्वयं नहीं प्राप्त है, उसे वह राज्यको कैसे प्रदान कर सकता है? जैसे किसी व्यक्तिको आत्महत्या करनेका अधिकार नहीं प्राप्त है फिर वह अपने वधका अधिकार राज्यको कैसे दे सकता है और इसतरह देशके व्यक्तियोंसे वधका अधिकार पाये बिना कोई राज्य किसी अपराधीको फांसी या मृत्युदण्ड कैसे दे सकता है? यह प्रश्न देखनेमें तो बहुत स्पष्ट जान पड़ता है परन्तु यह हल करनेमें कठिन है। इसलिये नहीं कि, यह प्रश्न पेचीला है, बल्कि इसलिये कि पेचीले ढङ्गसे यह उपस्थित किया गया है। यह प्रश्न हल करनेके लिये दूसरा प्रश्न यह होता है कि घरमें आग लगनेपर बहुत ऊंची छतपर-से जो आदमी कूद पड़ता है वह क्या कभी आत्महत्या करने-का अपराधी समझा जाता है? कितने ही जहाज तूफानमें पड़ डूब जाते हैं, यह बात जहाजपर चढ़ यात्रा करनेसे पहले ही प्रत्येक व्यक्तिको मालूम होती है। परन्तु जहाजपर डूब जानेवाले किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें किसीने क्या कभी आत्म-हत्या करनेका अपराध लगाया है? निश्चय ही इन प्रश्नोंके

उत्तरमें कहा जायगा, कदापि नहीं। यह क्यों? इसीलिये कि, अपनी प्राणरक्षाके लिये वह व्यक्ति ऊंची छतसे कूदा था या जहाजपर चढ़ा था, जान बूझकर प्राण देनेके लिये नहीं। इसीप्रकार राज्यकी जो व्यवस्था होती है वह देशके व्यक्तियोंकी रची हुई होती है जिसका मुख्य उद्देश्य राज्य और व्यक्तियोंकी रक्षा करनी होती है। यह उद्देश्य पूरा होनेकी इच्छा रखनेवालेको उद्देश्यपूर्त्तिके लिये कुछ संकट भी सहने पड़ेंगे और हानि भी अवश्य ही उठानी पड़ेगी। जो व्यक्ति दूसरोंके मत्थे अपनी जीवनरक्षा करनेको तैयार है उसे दूसरोंके लिये आवश्यकता पड़नेपर उसे देनेको भी तैयार रहना ही चाहिये। कानूनसे कौनसा संकट झेलनेको व्यक्तियोंको तैयार रहना चाहिये, यह निर्णय करना किसी व्यक्तिका नहीं राज्यका काम होता है। यदि राज्यकी ओरसे किसी व्यक्तिसे कहा जाता है कि, राज्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है; कि तुम मरो; तो उस व्यक्तिको मरनेको तैयार होना चाहिये; क्योंकि इसी शर्त्तपर उस समय तक वह व्यक्ति राज्यकी रक्षामें रहा है। अवश्य ही राज्य किसी व्यक्तिको पैदा करनेवाला नहीं है इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस व्यक्तिका जीवनदाता राज्य है; किन्तु एक प्रकारसे राज्य जीवनदाता भी ठहरता है, क्योंकि यदि वह व्यक्तियोंकी रक्षा अपनी शक्तिद्वारा न करे, तो बलवान निर्बलको जब चाहे तब मार डाले। कानून बनाते समय व्यक्ति या व्यक्तियोंके प्रतिनिधि जो किसी अपराधके लिये प्राणदण्डकी व्यवस्था करते हैं वह स्वयं मरनेके लिये

नहीं किया करते हैं जैसा ऊपरके प्रश्नोसे साधारण दृष्टिसे जान पड़ता है। वे हत्याके लिये प्राणदण्डकी व्यवस्था इसलिये करते है जिससे वे स्वयं हत्यासे बचे और इसीसे जब स्वयं किसीकी हत्या करते है; तो वे मरनेको राजी होते हैं। इसके सिवा जो व्यक्ति देशका कानून तोड़ता है; वह देशके विरुद्ध बागी ठहरता है। देशका कानून तोड़ वह देशका नहीं रह जाता और देशके विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनेवाला हो जाता है। उस अवस्थामें या तो राज्यहीकी रक्षा हो सकती है या कानून तोड़नेवालेहीकी। जब किसी व्यक्तिको फांसी दी जाती है तब वह राज्यका नागरिक नहीं, शत्रु रहता है जिसका प्रमाण मुकद्दमेकी काररवाई और फैसला होता है। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि, देशवाशियोमें किसी अपराधीको कड़ेसे कड़ा दण्ड मिलनेपर भी सन्तोष बना रहे, इसके लिये अत्यन्त आवश्यक है कि, कानून और दण्डकी व्यवस्था उन्हींके द्वारा करायी जाय।

परन्तु उपर्युक्त बातोंका यह अर्थ कदापि नहीं कि, मनुष्य राज्यके हाथ बिके हुए गुलामकी तरह है और उसे किसी तरहके मनुष्यत्वके अधिकार ही नहीं प्राप्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि, प्रत्येक व्यक्तिका राज्यसे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होता है, परन्तु वह वैयक्तिक बातोंमें पूर्ण स्वतंत्रता भोगनेका अधिकारी है। जिस राज्यमें व्यक्तियोंको वैयक्तिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती वह राज्य अत्याचारी, स्वेच्छाचारी, प्रजापीड़क जैसे नामसे पुकारा जाता है। राष्ट्र व्यक्तियोंसे बना हुआ होता है इसलिये वह जहां

राजनीतिक बातोंमें उनका प्रतिनिधित्व करता है वहां अन्य बातोंमें व्यक्तियोंको पूरी स्वतंत्रता होती है। कोई समय था जब एक राज्य अपनी प्रजामेंसे जितने व्यक्तियोंको चाहता था दूसरे राज्यके हाथ बेच देता था। सच पूछिये तो उस समय यहीं तक नहीं होता था, बल्कि जिस प्रकार अन्य पदार्थों से काम लिया जाता है इसी प्रकार मनुष्य भी एक निर्जीव पदार्थ समझा जाता था और राज्य अपनी इच्छाके अनुसार उसे जिस तरह चाहता था, काममें लाता था। जब राज्यका व्यक्तियोंके प्रति ऐसा भाव था तब केवल राज्यही नहीं, स्वयं व्यक्ति भी अपनेको दूसरेके हाथ बेंचते, गिरवी रखते और अन्य प्रकारसे दूसरेकी दासतामें डालते थे। परन्तु अब दासत्व या गुलामी-की वह प्रथा सभ्य संसारसे एकदम उठ गयी है और राज्य भी अपने यहांके प्रत्येक व्यक्तिके उन अधिकारोंको स्वीकार करते हैं जो मनुष्यके हैं। मनुष्य कोई निर्जीव पदार्थ तो है नहीं, वह सदा सजीव व्यक्ति होता है और उसे जो स्वाभाविक अधिकार प्राप्त होते हैं उनके भोगनेसे राज्य क्या, किसी भी सांसारिक शक्तिको उसे रोकनेका अधिकार नहीं प्राप्त है। प्रत्येक मनुष्यको परमात्माने स्वतंत्र रचा है और जाति, समाज अथवा राज्य सम्बन्धी जो भी बंधन हैं, वे स्वयं मनुष्यके ही रचे हुए हैं। इसीसे जहां प्रत्येक व्यक्ति कानूनी और राजनीतिक बातोंमें राज्यके बन्धनोंसे बंधा हुआ होता है, वहां वह वैयक्तिक बातोंमें स्वतंत्र है। जिन बातोंसे व्यक्तिका अपना ही सम्बन्ध है अर्थात् उनसे राज्यका

कुछ बनता बिगड़ता नहीं है वे वैयक्तिक बातें हैं। ऐसी बातोंमें राज्यको व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रतापर किसी प्रकारका अधिकार जमानेका कोई अधिकार नहीं है। उदाहरणकी भांति धर्म ही को ले लीजिये। धर्म (Religion) व्यक्तियोंकी अपनी वस्तु है, इससे राज्यका कोई सरोकार नहीं, क्योंकि वह तो केवल राजनीतिक संस्था है। प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार है कि वह जिस धर्मको पसन्द करे और अपने हितका समझे उसका अनुसरण करे। अवश्य ही जब कोई व्यक्ति स्वतन्त्ररूपसे किसी धर्मका अनुसरण करनेके स्थानमें अपना धार्मिकदल मजबूत करने या अपने अङ्गीकृत धर्मका मानवजातिमें प्रचार करनेके लिये कोई संगठन करेगा या किसी संगठन वा धर्मसमाजमें सम्मिलित होगा, तो उसके धार्मिक अधिकार भी उस संगठन या धर्मसमाजके अधीन होजायेंगे और वह धार्मिककार्य करनेमें भी उसी तरह पर-तन्त्र हो जायगा जिस तरह राज्यका एक अङ्ग बनकर उसने राज्य-सम्बन्धी बातोंमें राज्यकी अधीनता स्वीकार कर ली है। परन्तु यहांपर हमे व्यक्तियोंकी उस परतन्त्रताकी अवस्थाका विचार नहीं करना है। इस स्थलपर तो हम यह बताना चाहते हैं कि, राजनीतिक बातोंमें राज्याधीन होकर भी प्रत्येक व्यक्तिको किस प्रकार वैयक्तिक बातोंमें स्वतन्त्रता प्राप्त है अर्थात् उनके सम्बन्धमें राज्यको किसी प्रकारका हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है। कोई व्यक्ति चाहे विष्णुका उपासक हो या शिवका; ईसाको मुक्तिदाता समझे या मुहम्मदको; इसमें राज्यका कोई इजारा नहीं

है। राज्यको कोई अधिकार नहीं है कि, वह एक व्यक्तिकी इसीलिये पूरी रक्षा करे कि वह ईसाई है और दूसरे व्यक्तिका इसीलिये वध करे कि यह ईसाईमतका विरोधी है। अवश्य ही कभी यह भी समय था जब राज्याधिकारी अपनेसे भिन्न धर्म-वालोंका मूलोच्छेद करनेके लिये सभी उपाय काममें लाते थे। परन्तु उनकी निन्दायें इतिहासके पन्नेके पन्ने भरे पड़े हैं और वे सब भलेमानस प्रजारंजक होते हुए भी कुत्सित प्रजापीड़कोंके ही नामसे याद किये जाते हैं। इसीप्रकार नीतिरक्षक धार्मिक स्वत-न्त्रतामें भी प्रत्येक व्यक्तिको स्वतन्त्रता प्राप्त है जबतक उनकी उस स्वतन्त्रतामें दूसरे व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताको आघात न पहुंचे।



तीसरा अध्याय ।

१—राजा और राज्य ।

राज्य रचनाके समयसे ही राज्यकार्य चलानेके लिये किसी योग्य पुरुषकी आवश्यकता होती है। वही पुरुष बहुत प्राचीनकालसे राजाके नामसे प्रसिद्ध होता आया है। परन्तु एक पुरुष चाहे कितना ही योग्य और शक्तिसम्पन्न क्यो न हो, राज्यके कुल काम स्वयं नहीं कर सकता, इसीसे वह उस काम-के विभाग कर प्रत्येक विभागके लिये अपनी ओरसे योग्य व्यक्तियोंको नियुक्त करता और स्वयं उन व्यक्तियोके कामोपर पूरा नियंत्रण रखता है। ये व्यक्ति राज्यके नौकर या अपने विभागोके अधिकारी कहे जाते हैं। राज्यके भीतर रहनेवाले व्यक्तियोंमें एक राजा भी होता है, परन्तु अन्य व्यक्तियोकी अपेक्षा उसका गौरव महान् होता है। राजा ईश्वरका प्रतिनिधि माना जाता और राज्यमें उसका वैसाही सम्मान होता है। यद्यपि ईश्वरने किसी व्यक्ति या उसके वंशके नाम कोई ऐसा पट्टा नहीं लिख दिया है कि वही सदा राज्यका अधिपति बना रहे। तो भी जो राजा होता है उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट गुण होते हैं जिनके कारण वह राज्यके सब व्यक्तियोसे महान् होता है।

यदि आज भी राज्यके निवासी अपने राजाको न चाहें तो वह राजा एक क्षण भी अपने पदपर नहीं बना रह सकता। इसीसे राज्यके पंच लोग जिस व्यक्तिको राजा बना देते हैं, वह ईश्वरीय प्रतिनिधि होता और पंच परमेश्वर स्थानीय होते हैं। जिस अर्थमें राजा ईश्वरीय प्रतिनिधि समझा जाता है उस अंशमें तो उसे राजा बनानेवाले पंच निश्चय ही ईश्वरस्थानीय हैं। यद्यपि मनुष्यके भ्रान्त और ईश्वरके निर्भ्रान्त होनेके कारण राज्यके पंच क्या संसारभरके मनुष्य भी मिलकर कोई संगठन करे तो वे ईश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि उनके कार्य ईश्वरीय कार्यों-की भांति त्रुटिरहित नहीं हो सकते।

प्राचीन कालमें कितने ही राजाओंने अपने अधिकारमदसे उन्मत्त हो यह तो नहीं समझा कि, उन्हे वे अधिकार किनसे प्राप्त थे और लगे अपनी प्रजाको सताने। फल यह हुआ कि, जबतक उनके राज्यके निवासियोंको अपना वास्तविक स्वरूप भूला हुआ था तबतक तो उन मदान्ध राजाओं की मनमानी घरजानी चलती रही, क्योंकि तबतक राज्यके निवासी उन्हे ईश्वरीय प्रतिनिधि ही समझते रहे और यह नहीं सोचा कि इस ईश्वरीय प्रतिनिधिका अर्थ क्या है। परन्तु ज्यों ही वे पंच परमेश्वरकी वास्तविक महिमा समझ गये, त्यों ही राजाका वह गौरव उनकी दृष्टिमें न रह गया जो पहले था। वे समझने लगे कि, वास्तवमें राजा हमारा ही बनाया हुआ है इसलिये वह तभी तक राजा रहनेका अधिकारी है जबतक हमारे प्रतिकूल

न हो। हमारे प्रतिकूल हो यदि राजा स्वेच्छाचारसे काम लेगा, तो हम उसे अपना राजा न मानेंगे और किसी दूसरे योग्य व्यक्तिको उसके पवित्र आसनके लिये ढूंढ़ेगे। इस जागृतिके साथ ही कितने ही राज्योंके राजा समय समयपर पदच्युत किये और उनके स्थानपर नये राजा बनाये गये। परन्तु अबसे कुछ काल पहले संसारके कई देशोंने देख लिया कि जबतक किसी राज्यका शासन भार एक ही राजाके हाथ रहेगा, तबतक यह सम्भव नहीं कि सोलह आने जनसाधारणकी इच्छाओंके अनुसार काम हो। 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं।' अधिकार मिलने हीसे मनुष्य कुछका कुछ ही हो जाता है। यह तो ठीक ही है कि, प्रजा जिसको राजा बनायेगी, वह निश्चय ही शक्ति-सम्पन्न और योग्य होगा। परन्तु उसी तथा उसके वंशवालोंको सदाके लिये राज्याधिकार मिलते रहनेसे क्रम क्रमसे उनकी स्वेच्छाचारिताकी मात्रा बढ़ती जायगी और वे प्रजापीड़क बनते जायेंगे। यह तो उस राजा और उसके वंशजोंके सम्बन्धमें है जिसे राजा बनानेका अवसर राज्यकी प्रजाको मिला होता या जिसके राजा बननेसे अधिकांश प्रजा सन्तुष्ट रहती है। परन्तु जो मनुष्य अपनी शक्तियों और चालोंसे किसी देशका राजा बन बैठता है या जो एक देशका राजा दूसरे देशपर आक्रमण कर या अन्य प्रकारसे अधिकार कर राजा बन बैठता है, उसका तो कहना ही क्या। वह तो प्रजाकी दृष्टिमें अपनेको अत्यन्त प्रबल शक्तिवाला सिद्ध करने और उसपर अपना आतङ्क जमानेके

लिये राजा बननेके समयसे ही स्वेच्छाचारी और प्रजापीड़क होगा। इस प्रकारकी अवस्था निरन्तर ही देखनेमें आती रही है। इसीसे संसारके कितने ही राज्योंको भूतकालमें राजाके अधिकार छीन लेने और 'ईश्वरीय प्रतिनिधि' राजाके स्थानमें 'पंच परमेश्वर'के हाथ राज्याधिकार देनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई और जबतक एक राजाके स्थानमें 'पंच परमेश्वर'की सत्ता संसारके प्रत्येक भागमें न स्थापित हो जायेगी, तबतक यह आवश्यकता प्रतीत होती रहेगी। राजाके अधिकार छीन जिन राज्योंमें 'पंच परमेश्वर' या जन प्रतिनिधियोंके हाथमें राज्याधिकार सौंपे गये हैं, वहां यद्यपि प्रत्यक्ष रूपसे कोई राजा नहीं होता है, परन्तु राजाके स्थानपर ही एक ऐसा व्यक्ति अवश्य रहता है जिसे राज्यके लोग राज्यकार्य चलानेके लिये अपनेमेंसे सबसे अधिक योग्य समझ नियुक्त करते हैं। इस अंशमें तो वह राज्यका राजा ही होता है कि राज्य सम्बन्धी सब कार्य उसीकी आज्ञा और उसीके नामसे हुआ करते हैं। परन्तु राजा कहनेसे जिस राज्याधिपतिका बोध होता है उससे वह व्यक्ति इस बातमें सर्वथा ही भिन्न होता है कि न तो राजाकी भांति उसे या उसके वंशवालेको सदाके लिये राज्याधिकार प्राप्त होता है और न राज्याधिकारी रहनेके समयमें ही वह उन प्रतिनिधियोंकी मर्जीके विरुद्ध कोई काम कर सकता है जो राज्यवालोंकी ओरसे राज्यकी समुचित व्यवस्था और सुशासनके लिये चुने हुए होते हैं। वह राष्ट्रका बनाया हुआ

होता है इसलिये राष्ट्रपति कहा जाता है। किन्तु राष्ट्रपति होते हुए भी वह राष्ट्रसेवक बनकर जबतक काम करता है तभीतक राष्ट्रपति रह सकता है नहीं तो राष्ट्रद्वारा पदच्युत कर दिया जाता है। इसतरह स्पष्ट है कि, राजाके विना कोई राज्य नहीं होता चाहे अधिकारभेदसे संसारके भिन्न देशोंमें राजाका स्वरूप और नाम भिन्न भिन्न ही क्यों न हो। अत्यन्त प्रजासत्तात्मक राज्यमें भी राजाका या उसके समान कोई पद अवश्य होगा। यहांतक कि वास्तवमें ही जिस राज्यमें 'पंच परमेश्वर'का राज्य होगा, वहां भी पंचोंके ऊपर एक सरपंच अर्थात् जन प्रतिनिधियोंके ऊपर भी एक सर्वोच्च प्रतिनिधि या जनप्रतिनिधियोंकी सभाका अध्यक्ष अवश्य होगा। यह दूसरी बात है कि, वह सरपंच पंचोंका ही नियुक्त किया हुआ होने और उन पंचोंकी ही इच्छाके अनुसार उस पदपर बने रहनेमें समर्थ होनेसे प्राचीनकालके राजाओंके समान नहीं होसकता।

२—राजाका कर्त्तव्य और अधिकार।

राष्ट्रके राजनीतिरूपी शरीरका राजा आत्मा है, क्योंकि उस शरीरका कार्यसंचालन उसीके द्वारा होता है। वह राजा चाहे परम स्वतंत्र हो और चाहे राष्ट्रके प्रतिनिधियोंका बनाया हुआ हो, प्रत्येक दशामें ही वह जबतक अपने उस पदपर स्थित

है, जबतक राष्ट्रके सब मनुष्योंसे श्रेष्ठ और उच्च है। यदि यह न हो तो राष्ट्रमें विप्लव मच जाय और व्यवस्थाका नाम निशान मिट जाय। कारण यह कि सर्व साधारणकी रक्षाके लिये अनेक प्रकारके कानून बनते हैं। परन्तु उन कानूनोंका पालन लोग तब-तक कर ही नहीं सकते जबतक उन्हें बाध्य होकर वैसा न करना पड़े। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जो एकबार कोई कानून स्वीकार कर लेनेके बाद उसके अनुसार निरन्तर आचरण करते हैं। नाना प्रकारके काम, क्रोध, लोभ, मोहसे घिरे हुए मनुष्यकी साधारण प्रवृत्ति प्रायः किसी प्रकारके बन्धनमें न रहनेकी ही हुआ करती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि राज्यके कानून सम्बन्धी बन्धनसे यदि राज्यके निवासी स्वतंत्र रहने पावें, तो शीघ्र ही राज्यका अन्त हो जाय और लोगोंके स्वेच्छाचारके कारण अराजकता फैल जाय। इसीसे राज्यरचनाके साथ ही राजा या राष्ट्रपतिका अधिष्ठान किया जाता और उसीको कानून बनाने, कानूनोंके अनुसार न्याय करने, कानून, न्याय और राज्यकी रक्षाके लिये रखी हुई सेनाका आधिपत्य करते हुए युद्ध और संधि करने,—कानून और न्यायके कार्यनिर्वाहार्थ मंत्री, न्यायाधीश और अफसर नियुक्त करने तथा राज्यवासियोंको पुरस्कार व दण्ड देनेका अधिकार प्राप्त है। राजाको ये अधिकार प्राप्त हैं सही, बल्कि यों कहिये कि इन्हीं अधिकारोंके कारण राजा राजा है। परन्तु राजनीतिरूपी शरीरका चलानेवाला होने और राष्ट्रके सभी लोगोंसे उच्च और श्रेष्ठ होनेपर भी राजाको कुछ कर्त्तव्योंका भी पालन

करना होता है जिसके विना वह अपने पदपर ही नहीं रह सकता है। वे कर्त्तव्य क्या है? प्राप्त अधिकारोंका न्याय पूर्वक उपयोग करना। राजा राज्यवासियोमें सवसे अधिक शक्तिसम्पन्न और वड़ा होनेसे जिस क्षण चाहे उसी क्षण राज्यके प्रवलसे प्रवल व्यक्तिका सर्वनाश कर सकता है। परन्तु यदि उसका वह कार्य न्याय विरुद्ध होगा तो इस प्रकार जितने ही व्यक्तियोंके साथ उसकी ओरसे अन्याय होगा उतनी ही उसकी शक्ति क्षीण होती जायगी और एक समय ऐसा आ उपस्थित होगा कि राष्ट्रका उसके न्यायसे विश्वास उठ जायगा जिससे लोग उसे और अधिक समयतक सर्वश्रेष्ठ और पवित्र माननेको तैयार न होंगे और राज्य-क्रान्ति होजायगी। राज्यक्रान्ति कहिये या राजविद्रोह अथवा राजाके विरुद्ध गदर, यह तभी तक पापकर्म है जव तक राजा अपने अधिकारोंका सदुपयोग करता और कर्त्तव्योंका न्यायके अनुसार पालन करता है। परन्तु जव राजा कर्त्तव्यच्युत हो जाता है और उसके वैसा होनेसे सर्वसाधारणके ऊपर उसके अधिकारोंका दुरुपयोग होने लगता है जिससे जनसाधारणकी रक्षामें वाधा पहुंचती है, तव वही पापकर्म राष्ट्रके लिये उचित हो जाता है अर्थात् उस अवस्थामें आत्मरक्षाके लिये लोगोंका राज्यके विरुद्ध वलवा करना या राज्य विप्लव उपस्थित करना न्यायसङ्गत और उचित कार्य हो जाता है। कारण यह कि जैसा पहले कहा जा चुका है, राजाके सव अधिकार राज्यवासियोसे ही प्राप्त होते हैं और वे अधिकार राज्यके जनसाधा-

रणसे उसे इसीलिये प्राप्त हैं जिससे उनका न्यायपूर्वक सदुप-योगकर वह उनकी रक्षा करता रहे। जब सर्वसाधारणकी रक्षामें वाधा पड़ती है, तो राजाके होनेकी आवश्यकता ही जाती रहती है, क्योंकि यदि जनसाधारणको अरक्षित अवस्थामें ही रहना है, तो वह पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र होकर ही क्यों न रहे। राष्ट्रविप्लव या क्रान्तिमें सबसे बड़ा दोप या पाप यही है कि, चारो ओर अशान्ति फैल जाती और किसी मनुष्यकी जान और माल सुरक्षित नहीं होता है। जब किसी राजाके कर्त्तव्यपतित होनेसे उसके रहते हुए भी यदि अशान्ति और अरक्षिता हो तो ऐसे राजाकी अधीनतामें रहना कौन पसन्द कर सकता है?

राष्ट्रविप्लव या क्रान्तिसे सदा राज्यकी रक्षा करने और अपना पद स्थिर रखनेके लिये राजाको अपने अधिकारोके सदुपयोग और कर्त्तव्योका ठीक पालन करने सिवा कुछ और भी करना पड़ता है। राज्य भरके लोगोंकी रक्षा और उन्नतिका प्रबन्ध राजाको करना पड़ता है। जितना बड़ा उसका राज्य है उतना ही बड़ा उसका कुटुम्ब है अर्थात् राज्य उसके कुटुम्बके समान है। जिन लोगोंके ऊपर किसी कुटुम्बके भरणपोषण और प्रबन्धका भार है वे भली भांति समझ सकते हैं कि, इतने बड़े राज्यरूपी कुटुम्बके प्रबन्ध और रक्षा तथा उन्नतिकी व्यवस्था करना कितना दुस्तर कार्य है। इतने दुस्तर कार्यका पूरा प्रबंध करनेके लिये राजाका जो सबसे पहला कर्त्तव्य होता है वह यह है कि, अपने कर्त्तव्योंके पालन और अधिकारोके सदु-

प्रयोगके लिये वह कोई ढंग या प्रणाली स्थिर करे। यह प्रणाली पद्धति ही राज्यपद्धति या शासनपद्धति होती है। सारांश यह कि, इस शासनप्रणाली या शासनपद्धतिपर ही राजाका अस्तित्व और शक्ति तथा प्रजाकी रक्षा, कल्याण और उन्नति निर्भर है।

३—शासन प्रणाली।

राज्यकी शासनप्रणाली कितने प्रकारकी होती है और एक दूसरेमें क्या अन्तर होता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन तो आगे किया जायगा। परन्तु यहां उसकी विशेषताओंपर संक्षेपमें विचार करना अत्यावश्यक जान पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि, राज्यकी शासन व्यवस्था राजाको सौंपी गयी है चाहे उसे सौंपनेवाले परमेश्वर हों—जैसा बहुतेरे लोगोंका मत है—और चाहे राज्यके निवासी। उस शासनव्यवस्थाके लिये राजाको सबसे बड़ी शक्ति अर्थात् कानून बनानेकी शक्ति प्राप्त है और वह उन कानूनोंके द्वारा ही कार्य करता है। परन्तु राजाको कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह एकमात्र अपनी ही इच्छासे जैसा चाहे वैसा कानून बनाडाले और उसका राज्यके निवासियोंसे अपनी शक्तिद्वारा जबर्दस्ती पालन कराये। कानून बनानेका अधिकार उसे किसी न किसीसे प्राप्त होता है चाहे कुछ लोगोंकी सम्मतिके अनुसार वह उसे परमेश्वरकी ओरसे मिला है और चाहे जनसाधारणसे

ओरसे। जब अधिकार उसे दूसरेसे प्राप्त है तो स्पष्ट है कि राजा कानून बनानेमें परम स्वतंत्र नहीं है। अवश्य ही जिन्होंने राजाको यह अधिकार दिया है उन्होंने पूर्ण रूपसे ही दिया है। परन्तु नीतिज्ञ और चतुर राजा यह भली भांति समझता है कि, हम कितने ही योग्य क्यों न हों, जबतक मनुष्य हैं तबतक निर्भ्रान्त कदापि नहीं हो सकते। एक साधारण व्यक्तिकी भूल या दोष क्षम्य होता है, किन्तु राज्यभरके मनुष्योंके अधिपति राजाका साधारणसा दोष भी उसकी शक्तिका क्षय करनेवाला होता है। इसीसे चतुर राजा सदा कानून बनानेके अधिकारको एकमात्र अपनी ही इच्छाके अनुसार काममें नहीं लाता है और जिन्होंने उसे यह अधिकार दे रखा है किसी न किसी प्रकारसे उनकी सम्मति जानकर ही वह अपने इस महत्वपूर्ण अधिकारको काममें लाया करता है। जिस राज्यके लोग और स्वयं राजाकी समझ है कि, राजाको परमात्माकी ओरसे यह पद तथा कानून बनानेका अधिकार प्राप्त है, वहां अधिकार देनेवालेकी सम्मति जाननेका यदि कोई साधन है तो यह कि, राजा जिस धर्मको ईश्वरीय समझता है उसीके अनुसार कानूनकी रचना करे। परन्तु किसी भी धर्म या मतको ले लीजिये उनकी बातोंका अपनी अपनी मतिके अनुसार लोग भिन्न भिन्न अर्थ लगाया करते हैं. इसलिये यह सम्भव है कि, राजा जिन धार्मिक बातोंका अर्थ एक प्रकारसे लगाता है उन्हींके राज्यके निवासी उससे भिन्न प्रकारका ही अर्थ लगाये। सम्भव क्या, एकमात्र ए ही

व्यक्तिके हाथमें पूर्ण अधिकार होनेसे प्रायः यही अवस्था संघटित हुआ करेगी। दूसरे सिवा जब इस प्रकार राजा अपनेको ईश्वर-प्रदत्त अधिकारका अधिकारी समझ लेता है तब राज्यवासियोंपर स्वेच्छानुसार शासन करते करते वह किसी समय अपनेको ही परमेश्वर बताने लगता या प्रकट रूपसे वैसा न कहकर भी अपने आचरणसे वैसा सिद्ध करने लगता है। इसके फलस्वरूप वह परम स्वतन्त्र हो जाता और स्वेच्छाचार ही उसका मुख्य सिद्धान्त होता है। राजाके स्वेच्छाचारी होनेके जो बुरे परिणाम हुआ करते हैं उनके उदाहरणोंसे भूमंडलके इतिहासके पन्ने भरे पड़े हैं। यही कारण है कि संसारसे आज यह विश्वास एक प्रकारसे बिलकुल ही उठ गया है कि राजाको शासनका अधिकार परमेश्वरने दे रखा है इसलिये कानून बनानेमें वह परम स्वतन्त्र है। यदि कहीं इस समय ऐसा विचार है भी तो वह शीघ्र ही मिटे बिना नहीं रह सकता।

इसके विरुद्ध जब राज्यमें रहनेवालोंका यह विश्वास होता है कि, राजाको जो पद प्राप्त है वह हमारा ही दिया हुआ है और स्वयं राजा भी समझता है कि, राज्यवासियोंद्वारा ही हमें यह उच्चपद प्राप्त है तब उसे आवश्यकता प्रतीत होती है कि, राज्य-का कार्य सुचारु रूपसे चलानेके लिये सर्वसाधारणकी सम्मतिसे कानून बनाये जायँ। कारण यह कि, एकमात्र उसी अवस्थामें ही राज्यके निवासी राजाके बनाये कानूनोंका पालन करने

को वाध्य होते या किये जा सकते हैं इसीसे चतुर राजा कानून वनानेका अधिकार कहने मात्रको अपने हाथमें रखते हैं और वह काम जनसाधारणके प्रतिनिधियोंको सौंप दिया करते हैं और स्वयं उनके वहुमतसे पास हुए कानूनोंका सर्वसाधारणसे पालन करनेकी ही व्यवस्था किया करते हैं। जिस राजाने कानून वनानेका काम स्वयं उन लोगोंके हाथ दे रखा है जिनके लिये कानून वनाये जाते हैं उस राज्यका शासन सदा लोकप्रिय रहेगा यदि इस प्रकार वनाये हुए कानूनोंका पालन करानेवाले अर्थात् हाकिम कानूनोंका ठीक ठीक अभिप्राय समझ सद्भावसे और पक्षपातरहित हो उनसे काम लें। कारण यह कि, कानून कितना ही उत्तम क्यों न हो, यदि वह अन्यायी और न्याय-भावशून्य हाकिमोंके हाथ पड़ेगा तो वे अनेक प्रकारसे उसका दुरुपयोग कर राजाकी लोकप्रियता नष्ट किये विना नहीं रह सकते। इसीसे व्यवस्था या कानून वनानेवाले और उन कानूनोंके अनुसार जनसाधारणका शासन करनेवाले व्यक्तियोंका सदाचारी, पक्षपातरहित और बुद्धिमान् होना अत्यन्त आवश्यक है।

(क) व्यवस्था और शासन।

राज्यके कल्याण और अभिवृद्धिके लिये सुन्दर व्यवस्थाएं वनाने और उनके अनुसार राज्यशासन करनेका अधिकार राजा-

को प्राप्त है। वह चाहे तो बिना किसीसे कुछ पूछे हुए भी स्वेच्छानुसार ये कार्य कर सकता है। किन्तु उस दशामें वह बहुत दिनोंतक लोकप्रिय नहीं रह सकता, क्योंकि 'राजा प्रकृतिरंजनात्, अर्थात् प्रजाको संतुष्ट रखनेसे ही राजा राजा है, यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है। इसीसे व्यवस्था (कानून) बनानेका काम चतुर राजा एक व्यवस्थापकसभाको अर्थात् ऐसी सभाको सौंपता है जिसके सभासद उन लोगोंके चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। यहां ध्यान देनेकी बात है कि, व्यवस्थापकसभाका संगठन इसी लिये किया जाता है जिससे राजा

रीके लिये कभी कोई बंधन नहीं होता, तो भी राजाके स्वयं कानून बनानेसे उसके यशअपयशका भागी स्वयं राजा ही होता है और दूसरोंके मत्थे मौज करनेका उसे अवसर हाथ नहीं आता। परन्तु इसके विरुद्ध राजा जब ऐसी व्यवस्थासभा स्थापित करता है जिसके कुल या अधिकांश सभासद् उसीके नियुक्त किये हुए होते हैं और जनसाधारणके चुने हुए प्रतिनिधियोंका प्राधान्य नहीं होता, तब कहने कहनेको तो यह होता है कि राजा कोई कानून बनानेमें स्वेच्छाचारितासे काम लेता नहीं सभासदोंकी राय मानकर कानून बनाता है, किन्तु सच पूछिये तो उस अवस्थामें राजाकी वही स्थिति होती है जो टट्टोंकी आड़में शिकार खेलनेवालेकी। इसलिये ऐसी व्यवस्थासभासे उसका न होना ही अच्छा है, क्योंकि यदि राजा स्वयं कोई बुरा कानून बनायेगा ता कमसे कम संसारको तो उसका वास्तविक स्वरूप पहचाननेमें धोखा न होगा और प्रजाको भी तो व्यवस्थासभासे व्यर्थ आशाएं करने और इस तरह प्रायः निरन्तर हताश होकर शब्द उठानेकी आवश्यकता न होगी।

जिस व्यवस्थासभामें जनसाधारणके प्रतिनिधियोंका प्राधान्य नहीं है वह तो निकम्मी होती ही है, साथ ही जो व्यवस्थासभा जनप्रतिनिधियोंसे बनी हुई होती है उसे भी जनसाधारणकी स्वतन्त्रताओं, जान और मालके ऊपर अनियन्त्रित अधिकार नहीं प्राप्त होना चाहिये। कारण यह कि, वह ऐसे सभासदोंसे मिलकर ही तो बनी होती है जो यदि सभासद् न बनाये गये

होते तो एक साधारण व्यक्तिसे अधिक उन्हें कोई अधिकार न प्राप्त होता। जनसाधारण जब व्यवस्थासभाके मेम्बरोंको प्रतिनिधित्व देते हैं, तो वह एक सीमाके भीतर ही देते हैं। कानूनका उद्देश्य स्वतन्त्रता नष्ट करना या उसमें रुकावट पैदा करना नहीं, बल्कि उसकी रक्षा या वृद्धि करना होता है। व्यवस्था या कानून बनानेके अधिकारकी आवश्यकता इसलिये होती है जिससे शासन ऐसे घोषित किये हुए कानूनोंद्वारा किया जा सके जो एकमात्र सार्वजनिक लाभके लिये बनाये गये हों और जिन्हें अन्तमें जनताकी मंजूरी प्राप्त हो। उन कानूनोंसे स्वयं कानून बनानेवाले सभासद् भी अनवलिप्त (बरी) नहीं हो सकते। उक्त अधिकारकी आवश्यकता इसलिये भी होती है कि कानूनोंके अनुसार निर्णय करनेका अधिकार दे निष्पक्ष जज नियुक्त किये जांय और उनके अनुसार शासन करनेके योग्य हाकिमोंकी नियुक्तिकी व्यवस्था की जाय। व्यवस्थासभाको कुछ खास उद्देश्यसिद्धिके लिये जनसाधारणद्वारा सौंपे हुए अधिकार प्राप्त होते हैं इसलिये जब वह उन सौंपे हुए अधिकारोंका दुरुपयोग करे तो जनताको उससे अधिकार छीन लेनेका पूरा स्वत्व है। कहनेका तात्पर्य यह कि जनता कुछ लोगोंको अपने प्रतिनिधि बना उन्हें कुछ अधिकार देती है इसलिये उस अधिकारका दुरुपयोग करते देख वह अपना प्रतिनिधित्व छीन किसी और विश्वासपात्रको सौंपनेका पूरा अधिकार रखती है। जहां जनसाधारणको व्यवस्थासभापर इस प्रकारके अधिकार

प्राप्त है वहीं उनकी इच्छाओंके अनुसार कानून बन सकते और इसलिये उनकी उचित प्रतिष्ठा भी हो सकती है।

परन्तु जिस प्रकार ऊपर कहे ढंगके अनुसार राजा अपने कानून बनानेके अधिकारसे काम ले स्वयं सुख भोग अपने राज्य-वासियोंको सुखी और सन्तुष्ट रख सकता है, उसी प्रकार आव-श्यक है कि वह अपने शासन करनेके अधिकारकी भी उचित व्यवस्था करे। जब राजाने कानून बनानेका अधिकार जनप्रति-निधियोंको सौंप दिया, तो आवश्यक है कि उनके बनाये हुए कानूनोंके अनुसार शासन करनेवालोंकी व्यवस्था की जाय। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, किसी कानूनका ठीक ठीक अभि-प्राय जितना उसके बनानेवालोंको मालूम होता है उतना अन्य किसीको नहीं हो सकता। राजाको जिन कारणोंसे कानून बनानेका अधिकार एकमात्र अपने ही हाथमें न रखना चाहिये उन्हीं कारणोंसे यह और भी अधिक आवश्यक है कि उनके अनु-सार शासन करनेका काम भी केवल अपनेही हाथमें वह न रखे। एक व्यक्ति चाहे कितना ही अधिक शक्तिसम्पन्न क्यों न हो, वह राज्यभरका कुल शासनकार्य स्वयं नहीं कर सकता। इसीसे राज्यको बनाये हुए अपने कानूनोंके अनुसार राज्यवासियोंका शासन करनेके लिये शासको या हाकिमोंके नियुक्त करनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु यदि कानून बनाने और उनके अनुसार शासन करनेके अधिकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों या सभाओंको न सौंपे जायँगे तो कुछ व्यक्तियोंके स्वार्थोंके आगे

किये हुए कानूनकी रक्षा और उसका ठीक प्रयोग करना है। व्यवस्थापक या कानून बनानेवालोंका काम तो कानून बना देना-मात्र होता है। राजा व्यवस्थापकोंद्वारा कानून बनाकर उनके पालन करानेका कार्य शासकोंपर छोड़ता है। किन्तु उनका पालन ठीक ठीक तभी कराया जा सकता है जब व्यवस्थापकोंको यह अधिकार दिया गया हो कि वे जब शासकोंको कानूनके अभिप्रायके विपरीत उससे काम लेते देखें; तो तुरन्त राजाको उसकी सूचना दे दें और राजा भी वह सूचना पा शीघ्र ही शासकोंको कानूनके अभिप्रायके अनुसार उससे काम लेनेका आदेश करे। किसी कानूनका वास्तविक अभिप्राय एकमात्र कानून बनानेवालोंको ही नहीं, वरं स्वयं राजाको भी ज्ञात रहता है। इसलिये व्यवस्थापकोंके अंकुशके सिवा शासकोंपर स्वयं राजाको भी निरन्तर प्रमादरहित हो दृष्टि रखनी चाहिये कि वे किसी कानूनके अभिप्रायके विरुद्ध उससे काम ले स्वेच्छाचारद्वारा प्रजाको पीड़ा न पहुंचाने पायें। कारण यह कि, राजा तो राजमहलोंमें बैठा होता है या कमसे कम वह ऐसे स्थानपर निवास करता है जहांतक जनसाधारणकी पहुंच ही नहीं होती। जनताकी दृष्टिमें तो राजाके निम्नसे निम्न कर्मचारी या हाकिम ही सब कुछ होते हैं और सच पूछिये तो वे उन हाकिमोंको ही प्रायः सभी राज्य-सम्बन्धी कार्योंमें एक प्रकारसे राजा ही समझते हैं। इसलिये यदि राजा कानून बनानेवालोंके चेतावनी देनेसे या स्वयमेव उनपर दृष्टि रख हाकिमोंको अपने नियंत्रणमें सदा न रखेगा, तो

उनके स्वेच्छाचारी होनेसे राजा भी सर्वसाधारणकी दृष्टिमें स्वेच्छाचारी और प्रजापीड़क समझा जायगा चाहे वह स्वयं कितना ही न्यायी और मर्यादापालक तथा प्रजाका हितचिन्तक क्यों न हो। किन्तु राजाको तो राज्यसम्बन्धी सभी कार्योंकी साधारण देखभाल रखनी पड़ती है और कानून बनानेवालोंको अपने ही काममें इतना व्यस्त रहना होता है कि, इनमें कोई भी राज्यके एक एक हाकिमके नित्यके कार्योंपर दृष्टि नहीं रख सकता। राजाको न्यायका विभाग अलग खोलना पड़ता है और ऐसे निष्पक्ष न्यायाधीश नियुक्त करने होते हैं जो स्वयं कानून पालन कराने या शासनका काम तो नहीं करता है, किन्तु स्वीकृत कानूनोकी रक्षा और उनका ठीक ठीक प्रयोग करता रहता है। किसी कानूनके सम्बन्धमें जब हाकिम और किसी प्रजाजनके बीच कोई विवाद या झगड़ा पैदा होता है, तब उन दोनोंको न्याय कराने या दूसरे शब्दोंमें योकहिये कि यह निश्चय करानेके लिये कि किसका पक्ष कानूनके अनुकूल और किसका प्रतिकूल है, राजाकी शरण लेनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु एक तो राजा प्रत्येक वैयक्तिक झगड़ेका निर्णय करनेमें असमर्थ होता है और दूसरे उसके ऐसा करनेमें अन्य कई प्रकारके दोष पैदा होते हैं।

राजा यदि स्वयं न्यायाधीशका कार्य करे, तो उससे कई प्रकारके दोष पैदा हो सकते हैं। पहला दोष तो यह पैदा होगा कि, उसके न्यायपर बहुत समयतक प्रजाका पूर्ण विश्वास नहीं बना रह सकता कारण यह कि यदि वह यथाशक्ति सदैव न्याय

ही करनेकी इच्छा रखता हो तो भी भ्रान्तिरहित न होनेसे उससे भी त्रुटियोंका होना स्वाभाविक ही है। न्यायमें त्रुटि होनेसे जिस पक्षपर अन्याय होगा वह राजाके न्यायसे विश्वास खो देगा और उसकी दृष्टिमें राजाका पवित्र पद दूषित हो जायगा। दूसरा दोष यह है कि, न्याय चाहनेवाले दोनों पक्षोंकी स्वतन्त्रताका अनुचित रूपसे हरण होता है। राज्यमें राजासे उच्च पद किसीका नहीं होता है। प्रजाको सदा इस बातकी आशा रहती है कि, यदि कहींसे न्याय न होगा, तो हम अपने राजाकी शरण लेंगे और वहांसे न्याय प्राप्त करेंगे। न्यायके सिवा अपराधियोंको एक बड़ी भारी आशा यह भी होती है कि, राजासे प्रार्थना करनेपर सम्भव है कि वे अपनी दया दिखानेके प्राप्त अधिकारसे काम ले हमारे ऊपर दया दिखा दें। परन्तु जब न्याय करनेका भी अधिकार राजा अपने ही हाथमें रख ले, तो उसका किया हुआ निर्णय चाहे न्यायानुकूल हो या न्यायके प्रतिकूल: वह वज्रकी लीक हो जायेगा और न्याय चाहनेवाले उभयपक्षोंसे ऊपर कहे हुए सुभीते एकदम छिन जायेंगे। तीसरा और सबसे बड़ा दोष तब पैदा हो सकता है जब राजाका स्वभाव कड़ा हो। स्वभावके कड़े होनेसे तो प्रजाका निर्वाह ही कठिन हो जायेगा, क्योंकि तनिकसे अपराधके लिये भी न्यायाधीशके आसनपर बैठा हुआ राजा अपने स्वभाववश प्रजाको कड़ीसे कड़ी सजा देगा और उसकी उस सजाके विरुद्ध न्याय या क्षमाकी प्रार्थना करनेके लिये प्रजाके हाथमें और कोई साधन शेष न

रह जायेगा। चौथा दोष और भी भयङ्कर यह होगा जब राजाको अपने ही विरुद्ध किये हुए अपराधोंके सम्बन्धमें न्याय करनेका प्रसङ्ग आ उपस्थित होगा। ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर प्रजाके लिये न्याय प्राप्त करना तो दुर्लभ ही हो जायेगा साथ ही उसे राज्यके विरुद्ध अपराध करनेकी अवस्थामें राजाकी कोपाग्निका बड़ी बुरी तरहसे शिकार बनना पड़ेगा। पांचवां दोष यह पैदा होगा कि, राजा स्वेच्छाचारी बन जायेगा. क्योंकि मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा होता है कि यदि किसी प्रकारका बन्धन न हो तो वह निश्चय ही स्वेच्छाचारी बन जाता है। इन्हीं सब दोषोंके विचारसे चतुर राजा कभी न्यायका कार्य

और दोनोंके लिये अलग अलग व्यक्ति नहीं नियुक्त किये जाते थे। किन्तु राजनीतिक ज्ञानकी उन्नतिके साथ ही वह प्रथा सदोष प्रतीत हुई और अब कदाचित् ही संसारका कोई स्वतन्त्र सभ्य देश होगा जहां न्याय और शासन दोनों कार्य एक ही मनुष्य-द्वारा कराये जाते हों। दुर्भाग्यवश जो देश पराधीन हैं उनमें अब भी ऐसे देश हैं जहां आज वैयक्तिक स्वतन्त्रताके इस युगमें भी न्याय और शासन दोनों ही कार्य मैजिस्ट्रेट किया करते हैं। परन्तु जहां ऐसी कुप्रथा प्रचलित है, वहां न्यायके लिये तो सदा ही प्रजाको रोना पड़ता है। साथ ही वहांके हाकिम ऐसे स्वेच्छाचारी होते हैं कि, उनके मारे प्रजाकी नाकों दम हो जाता है। यह प्रथा इतनी दोषपूर्ण है कि, साधारण विचारसे भी इसके दोष प्रकट हो जाते हैं। एक ही मैजिस्ट्रेटको न्याय और शासन दोनों काम सौंप दिया गया, इसका क्या परिणाम होगा। बने हुए कानूनोंके पालन कराने या उनके अनुसार शासन करनेके लिये तो मैजिस्ट्रेट नियुक्त होता है। वहां निरन्तर यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि जिस व्यक्तिको मैजिस्ट्रेट कानून तोड़नेका अपराधी समझता है वह वास्तवमें ही अपराधी है या नहीं? न्याय और शासन दोनो काम उसी मैजिस्ट्रेटके हाथमें हैं, तो कैसी अवस्था पैदा होगी? एक ओर तो मैजिस्ट्रेट, जिसे यह अधिकार दिया गया है कि यदि उसके इलाकेके भीतर कोई व्यक्ति सरकारी कानून तोड़े तो उसका उस अपराधके लिये वह शासन करे, मुद्दई बनेगा, क्योंकि वही

तो कानून तोड़नेवालेपर यह मामला चलायेगा कि इसने कानून तोड़ा है। दूसरी ओर न्यायका कार्य भी यदि उसी मैजिस्ट्रेटके सुपुर्द है, तो वही मैजिस्ट्रेट जज बन उस मामलेका फैसला करनेको भी बैठेगा। जब किसी मामलेमें निर्णय करनेका काम वादी या मुद्दईको ही सौंपा जाता है तब प्रतिवादी या मुद्दालेहको किस अंशतक न्याय प्राप्त हो सकता है, यह समझना कुछ भी कठिन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि न्याय और शासनके काम पृथक् पृथक् व्यक्तियोंको सौंपे जाने चाहिये और मैजिस्ट्रेटका काम शासन करना ही होना चाहिये, न्याय करना नहीं। न्याय करनेके कामके लिये मैजिस्ट्रेटोंसे भिन्न जज होने चाहिये। सभी स्वतन्त्र और सभ्य देशोंमें मैजिस्ट्रेट शासन प्रवन्ध करनेके लिये होते हैं और मामले सुन दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकारके झगड़ोंमें न्याय करनेके लिये निष्पक्ष जज नियुक्त किये जाते हैं और न्याय विभाग व्यवस्था और शासन दोनों ही विभागोंसे पृथक् रखा जाता है।

(ग) न्यायकी व्यवस्था।

परन्तु वैयक्तिक स्वतंत्रताके इस युगमें स्वतंत्र और सभ्य देशोंमें न्याय विभागको शासन विभागसे ही पृथक् करके सन्तोष नहीं कर लिया गया है और वास्तवमें न ऐसा न्यायके

सूक्ष्म विचारसे किया ही जा सकता है। कारण यह कि, यदि शासकों या हाकिमोंसे भिन्न निष्पक्ष जज नियुक्त करके ही सन्तोष कर लिया जाय, तो भी इस बातका पूर्ण निश्चय नहीं हो सकता कि, जिन निष्पक्ष जजोंके हाथ इतने महत्वका काम सौंपा जाता है ये सदा ही निष्पक्ष बने रहेंगे और बिना किसी प्रकारके भेदभावके सबके साथ शुद्ध न्याय करते रहेंगे। कारण यह कि आखिर न्यायाधीश या जज भी तो हमलोगोंकी तरह ही मनुष्य हैं। यदि उन्हें इतना महत्वपूर्ण पद तब दिया गया है जब पहले उनके वंश तथा स्वयं उन्हींके सदाचार, विद्या आदिका निश्चय कर लिया गया है, तो भी जिस प्रकार यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आज जो सदाचारी है वह कल भी रहेगा ही इसी प्रकार न्यायाधीश या जजके सम्बन्धमें पूर्ण निश्चयके साथ नहीं कहा जा सकता कि इतने बड़े महत्वका पद पाकर भी वह सदा निष्पक्ष बना रहेगा और किसी प्रकारके सांसारिक प्रलोभनमें न फंसेगा। उदाहरणकी भांति एक ऐसा मामला ले लीजिये जिसमें न्यायाधीश या जजके निकट सम्बन्धी या मित्र फंसे हुए हैं। मनुष्यका स्वभाव अपना और पराया बहुत पहचानता है। उस दशामें बहुत ही अधिक सम्भव है कि, वह न्यायाधीश अपनेके ममत्वमें पड़ अपनी निष्पक्षता त्याग पराये पक्षके विरुद्ध न्याय कर दे या यों कहिये कि न्यायकी हत्या कर डाले। संसारमें ऐसे जन तो विरले ही होंगे जो न्यायाधीशके पवित्र आसनपर बैठ अपने और परायेका कभी कुछ विचार न

कर सदा शुद्ध न्याय करते रहे। एक और उदाहरण ले लीजिये. एक दीवानीका मामला है जिसमें दो मनुष्योंके बीच लाखोंकी सम्पत्तिके सम्बन्धमें विवाद है। उभय पक्षमें जो भी जीतेगा उसे लाखोंकी सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। ऐसी दशामें मुख्यकर उस पक्षके लिये, जो अन्यायपूर्वक उस लाखोंकी सम्पत्तिपर अधिकार जमानेको लड़ रहा है, बहुतही सम्भव है कि वह उचित और न्यायानुकूल मार्गोंसे जीतनेकी आशा न देख हजारों लाखोंका घूस दे उस धनसे कई गुना मूल्यकी सम्पत्तिका मालिक बननेका प्रयत्न करे। उस समय यों ही आती हुई लक्ष्मीका तिरस्कारकर शुद्ध न्याय करनेके लिये हठात् अड़े रह जानेवाले जज विरले ही होंगे। कहनेका तात्पर्य यह कि.

जैसे न्याय क्षीण होता है वैसे वैसे ही उसकी शक्तिका क्षय होता है, यह निर्विवाद सत्य है। इसीसे चतुर राजाका सबसे पहले अपने न्यायविभागकी सुव्यवस्थाकी ओर ध्यान जाता है। न्यायाधीशके आसनपर वह ऐसे गुणसम्पन्न और उदाराशय, पर साथ ही न्यायशील महानुभावोंको बैठाता है जो सहसा काम, क्रोध, लोभ मोहके प्रलोभनमें नहीं पड़ सकते। परन्तु कोई न्यायाधीश निरन्तर न्यायपथपर ही बना रहेगा, इसका कुछ ठीक निश्चय कोई मनुष्य नहीं कर सकता। इसीसे न्यायकी रक्षाके लिये राजाको कई प्रकारके पूर्वोपाय करने पड़ते हैं। सभी उन्नतिशील सभ्य और स्वतन्त्र देशोमें न्यायरक्षाके लिये सबसे पहली व्यवस्था तो यह होती है कि, जिस मामलेके किसी पक्षसे निकटका क्या, दूरका भी जजसे सम्बन्ध होता है जिससे उसमें पक्षपात होनेका भय हो, वह मामला उस जजकी अदालतसे उठाकर दूसरी अदालतमें भेजा जा सकता है। इस व्यवस्थासे किसी मामलेमें किसी पक्षके मोह वश जजके पक्षपात करनेका भय बहुत कुछ जाता रहता है। यदि न्यायका पूरा भार एक ही जजके ऊपर छोड़ दिया जाय और वह जज काम, क्रोध, लोभ; मोहके प्रलोभनोंसे भी बचा रहे तो भी न्याय करनेमें उससे भूलें हो सकती हैं, क्योंकि आखिर वह भी तो मनुष्य ही है और भूलें करना मनुष्यका स्वभाव ही होता है। उसकी भूलोंसे न्यायकी हत्या होगी जिससे न केवल हारनेवाले पक्षकी ही हानि होगी, वरं स्वयं राजाके न्यायपर भी कलंक आयेगा। इसीसे उन्नतिशील

स्वतन्त्र और सभ्य राज्यमें न्यायाधीशके साथ ही मामला सुननेको जुरी या पंचोंके बैठनेकी व्यवस्था की जाती है।

जब सभ्यताने इतनी उन्नति नहीं की थी तब मामलोंका निपटारा उभयपक्षके चुने हुए पंचोंद्वारा ही करानेकी प्रथा प्रचलित थी। आज भी पंचोंका निर्णय राज्याधिकारियोंको बहुत कुछ मान्य होता है। जुरी या असेसरोंके साथ मिलकर जजोंके मामला सुनने और उनकी सम्मतिके अनुकूल निर्णय देनेकी प्रथा पंचायतकी प्रथासे वहुत ही मिलती जुलती है। जुरीकी प्रथा अब इतनी मान्य हो गयी है कि जवतक इसके अनुसार मामला सुननेकी व्यवस्था नहीं की जाती तबतक अदालतके फैसलेसे किसीको पूरा संतोष नहीं होता। यही नहीं, जिस राज्यमें जुरीकी सहायतासे मामला सुने जानेकी व्यवस्था नहीं है, उस देशके न्यायके सम्बन्धमें किसी भी स्वतन्त्र विचारके मनुष्यको विश्वास नहीं होता और जहां यह प्रथा नहीं प्रचलित है वह देश स्वतन्त्र राष्ट्रोंकी दृष्टिमें वहुत गिरा हुआ समझा जाता है। स्वतन्त्र देशोंमें तो यह नियम होता है कि, न्यायाधीश या जज जुरीके साथ वैठकर मामला सुनेगा और जुरीकी सम्मतिके अनुसार उसे मामलेका निर्णय भी करना होगा। अवश्य ही यदि न्यायाधीशको जुरीकी सम्मति न्यायानुकूल न जंचे, तो वह अपनी सम्मतिके साथ जुरीकी सम्मतिको अपनेसे उच्च न्यायाधीशके निर्णयके लिये उसके पास भेज देगा और उच्च न्यायाधीश दोनो प्रकारकी सम्मतियोंपर उचित विचारकर

मामलेका निर्णय कर देगा। यदि जुरीकी सर्वसम्मति जजकी सम्मतिके विरुद्ध होती है, तो पहले तो स्वयं जजहींको उसकी सम्मति मान तदनुसार फैसला करना पड़ता है और यदि किसी अवस्थामें उसे अपनेसे उच्च न्यायाधीशसे पूछना होता है, तो वह न्यायाधीश भी प्रायः जुरीकी सर्वसम्मतिके ही अनुकूल निर्णय करता है। बहुमत होनेपर भी जुरीकी सम्मतिका बहुत मूल्य समझा जाता है। इस तरह जुरीकी प्रथासे किसी मामलेमें जजके पक्षपात या अन्य किसी कारणसे अन्याय होनेकी सम्भावना बहुत कुछ दूर हो जाती है।

परन्तु जुरीकी सहायतासे या अन्य प्रकारसे मामला जांचने सुनेपर यदि न्यायाधीशो द्वारा अन्याय हुआ हो तो उसे दूर करा शुद्ध न्याय प्राप्त किया जा सके, इस विचारसे अपीलकी अदालतोंकी व्यवस्था की जाती है जिससे नीचेकी अदालतोंके फ़ैसलेके विरुद्ध उनसे पुनर्विचारके लिये प्रार्थना की जा सके। अपीलकी अदालतें मुकद्दमें भी सुनतीं और नीचेकी अदालतोंके फैसलोंपर पुनर्विचार भी किया करती हैं। अपीलकी अदालतोंके भी कई दर्जे रखे जाते हैं जिससे अन्तिम दर्जेतक अर्थात् सर्वोच्च न्यायालयतक मामला पहुंचनेसे प्रायः शुद्ध न्याय प्राप्त ही हो जाता है। यदि फौजदारीके मामलेमें फंसा हुआ कोई अभियुक्त सर्वोच्च न्यायालयसे भी दोषी ही ठहरता है, तो उसके लिये एक ही मार्ग शेष रह जाता है। वह प्रार्थनापत्रद्वारा राजासे क्षमायाचना करता है और राजाको अधिकार प्राप्त है

कि वह किसी भी अपराधीपर अपनी राजकीय दया प्रदर्शितकर क्षमा कर दे या उसकी सजा कम कर दे। इस तरहकी न्यायव्यवस्था प्रायः सभी सभ्य देशोंमें प्रचलित है और देशवासियोंको शुद्ध न्याय प्राप्त करने अथवा कानूनके कठोर पंजेसे बचनेके लिये राजातक प्रार्थना करनेका अधिकार प्राप्त होता है। परन्तु इतना सब होनेपर भी ऐसी भी अवस्थाएं कभी कभी उपस्थित हुआ करती हैं जब सर्वोच्च न्यायालयतक भी पहुंचकर शुद्ध न्याय प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। ऐसी अवस्थाएं मुख्यकर उन जातियों या देश-वासियोंके लिये उपस्थित होती हैं जिन्हें स्वराज्यके अधिकार नहीं प्राप्त हैं और जिनके ऊपर विदेशियोंका शासन होता है। हम पहले ही कह आये हैं कि, विदेशी शासन बिलकुल ही अस्वाभाविक होता है, इसीसे विदेशियोंके शासनमें किसी देशके निवासियोंको शुद्ध न्याय प्राप्त करना बहुत कठिन हो जाता है। मुख्यकर ऐसे मामलोंमें तो न्यायकी कभी आशा ही नहीं की जा सकती जो देशके किसी निवासी और विदेशी शासक-जातिके किसी व्यक्तिके मध्य होता है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि विदेशी शासकजातिके भंगीसे लेकर राजातक सभी अपनेको अधीन देशके निवासियोंके राजा समझते जिससे अपनी तुलनामें इन्हें अत्यन्त तुच्छ गिनते हैं। विदेशियोंके शासनमें सबसे बड़ा दोष यह होता है कि, शासन करनेवालोंका शासितोंपर कभी पूरा विश्वास ही नहीं होता है। शासक-जाति [illegible] जानती है कि, किसी देशके लिये विदेशियोंका

शासन एकदम अस्वाभाविक होता है इसलिये किसी देशके निवासी स्वेच्छासे प्रायः कभी न चाहेंगे कि हमारे ऊपर विदेशियोंका शासन बना रहे। इसीसे उनपर अविश्वासकर शासक-जातिवाले राज्यके प्रायः सभी उच्च पद अपने हाथमें किये रहते और शासितोंको ऐसी ही सरकारी नौकरियां देते हैं जिनका कोई विशेष महत्व नहीं होता। शासितोसे अपनेको सब तरहसे बड़ा समझनेका उनका स्वभाव बन जाता है, इसीसे जब शासक-जातिके न्यायाधीशोके सामने कोई ऐसा मामला आता है जो उनकी जातिके किसी आदमी और शासित जातिके किसी व्यक्तिके बीच होता है, तब अपने जातिभाईका अनुचित पक्षपात करनेके कारण उनका शुद्ध न्याय करना एक प्रकारसे असम्भव हो जाता है। इन बातोंके कहनेका हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं कि, विदेशी शासनमें देशवासियोंको विदेशी न्यायाधीशोसे उनके जातिभाइयोके मुकाबलेमें कभी शुद्ध न्याय प्राप्त होता ही नहीं है। इसके विपरीत कभी कभी ऐसे उदाराशय विदेशी न्यायाधीश भी देखनेमें आते हैं जो न्याय करते समय अपने परायेका कोई विचार ही नहीं रखते और स्वयं अपने पुत्रको भी अपराधी पाते तो उसे भी दण्ड दिये बिना नहीं मानते हैं। ऐसे न्यायी न्यायाधीश उनसे करोड़ दर्जे अच्छे होते हैं जो यद्यपि विदेशी शासकजातिके नहीं होते, किन्तु अपने विदेशी शासकोंकी भृकुटी सीधी रखनेके लिये अपने ही देशवासी भाइयोके गले घोंटनेको भी सदा तैयार रहते हैं। परन्तु ऐसे पक्षपातशून्य

न्यायाधीशोंका मिलना बहुत ही दुर्लभ होता है, इसीसे शासित-जातिके लिये सर्वोच्च न्यायालयसे भी सदा ही शुद्ध न्याय नहीं प्राप्त होता।

चौथा अध्याय।

१—बहुमत (Majority)

यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो राज्यका कानून सार्वजनिक स्वार्थके सिवा और कुछ नहीं है। अब प्रश्न होता

और उसके भीतर लाखों मनुष्य निवास करते हैं, तब उन सबका किसी एक स्थानपर एकत्र हो कानून बनानेमें प्रत्यक्ष सम्मति देना महा कठिन ही नहीं, वरं एक प्रकारसे असम्भव है। यदि थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि राज्यभरके निवासी अब भी किसी सभामें एकत्र हो कानून बनानेके लिये प्रत्यक्ष सम्मति दे सकते हैं, तो भी एक दोष तो कदापि दूर नहीं हो सकता। हजारों लाखोंकी संख्यामें एकत्र हो लोग किसी प्रस्तावित व्यवस्था या कानूनके पक्ष या विपक्षमें अपनी सम्मति दे सकते हैं जिससे उनकी सम्मतियोंकी गणनाकर सार्वजनिक इच्छा जानी जा सकती है। परन्तु इतनी अधिक संख्यामें एकत्र हो लोग परस्पर विचारपूर्वक कोई कानून उपस्थित कर सकते या पेचीले राजनीतिक प्रश्नोंपर गम्भीर विचार कर सकते हैं, हमारी समझसे यह एक प्रकारसे असम्भव ही है। यह कठिनाई दूर करनेहीके लिये अप्रत्यक्ष सम्मतिकी व्यवस्था की गयी है।

कितने ही राजनीतिज्ञोंका मत है कि, जब कानून सार्वजनिक इच्छाके सिवा और कुछ नहीं है, तब उसके बनानेमें अप्रत्यक्ष सम्मतिका ढंग अत्यन्त अनुचित और हानिकर है। उनका मत है कि, जबतक राज्यके भीतर बसनेवाले जन मिलकर एक शरीरवत् जान पड़ते हैं, तबतक उन सबकी इच्छा उस विषयमें केवल एक ही प्रकारकी होती है जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक रक्षा और सार्वजनिक कल्याणसे होता है। राज्यकी रचनाकी

आवश्यकता ही सार्वजनिक रक्षा और कल्याणके लिये होती है। उस अवस्थामें राज्यकी सभी शक्तियां दृढ़ और साधारण होती हैं, क्योंकि परस्परविरोधी स्वार्थ होते ही नहीं। सर्वत्र सार्वजनिक कल्याण दृष्टिगोचर होता जो सद्विवेकमात्रसे जाना जा सकता है। ऐसे राज्यको बहुत ही कम कानूनोंकी आवश्यकता हुआ करती है और यदि नये कानून बनानेकी आवश्यकता भी होती है तो वह आवश्यकता राज्यके सभी निवासियोंको प्रतीत होती है। इसलिये पहला आदमी जब किसी नये कानूनका प्रस्ताव करता है, तब वह जो बातें कहता है वे सभी पहलेसे ही लोगोंके विचारमें पैठी हुई होती हैं जिससे वह कानून पास होनेमें कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती। सच तो यह है कि, जिस राज्यकी रचना सुन्दर रूपसे हुई है उसमें राज्यके नागरिकोंके हृदयमें सार्वजनिक कामोंका महत्व निजू कामोंसे बहुत बढ़चढ़कर होता है। सच पूछिये तो निजू मामले होते ही बहुत कम हैं, क्योंकि सार्वजनिक समृद्धिके कारण प्रत्येक व्यक्ति बहुत अधिक समृद्ध रहता है और वैयक्तिक उद्योगद्वारा समृद्धि प्राप्त करनेकी आवश्यकता ही बहुत कम होती है। इसीसे जहां सुसंचालित राज्यमें प्रत्येक व्यक्ति लोकसभाओंमें पहुंच मत देनेको सदा तैयार रहता है, वहां बुरे राज्यमें उनमें उपस्थित होनेकी परवाह ही किसीको नहीं होती, क्योंकि उनकी कारवाइयोंमें किसीका अनुराग ही नहीं होता है। इसका कारण यह होता है कि, पहलेसे ही जानी हुई बात है कि, सार्वजनिक सम्मतिका आदर न किया जायेगा। फल यह होता

है कि, लोग कहने लगते हैं कि, राज्यके मामलोंसे हमारा क्या लाभ है। इस तरह बुरे राज्यमें देशभक्तिका पतन होता, कुछ चतुर लोग अपने स्वार्थ साधनेमें तत्पर हो जाते और शासन बुरा हो जाता है। ऐसे चतुर लोग राज्यके भीतर सार्वजनिक कल्याण-की जगह अपने स्वार्थ सिद्ध करनेके पश्चात् एक प्रकारसे स्वयं ही राज्यके हर्त्ताकर्त्ता बन जाते और फिर अपना प्रभाव और अधिकार बढ़ानेके लिये दूसरे राज्योंपर अनुचित रूपसे अधि-कार करनेके लिये प्रयत्न करने लगते हैं। दूसरे राज्योंपर विजय प्राप्तकर वे अपना राज्यविस्तार करते हैं जिससे उन्हे लोक-सभाओंमें जनप्रतिनिधियोंकी व्यवस्था करनी पड़ती है। कारण यह कि जैसा ऊपरकहा गया है, किसी नगर तुल्य छोटे राज्यके सभी लोगोंका लोकसभाओंमें एकत्र हो कोई कानून बनानेके सम्बन्धमें प्रत्यक्ष राय देना सम्भव है, पर बड़े राज्यमे वैसा होना एक प्रकारसे असम्भव ही है। जब कुछ लोगोंके निजू स्वार्थोंके कारण राज्यका विस्तार बढ़ता है तब वास्तविक लोकमतकी जगह दिखावटी लोकमत जाननेकी व्यवस्था करनी ही पड़ेगी और इसीसे प्रति-निधियोंद्वारा सम्मति प्रकट करनेकी परिपाटी चल निकली है। परन्तु जनताके प्रतिनिधि कहानेवाले वास्तवमे प्रतिनिधि न हैं और न हो सकते हैं। वे केवल जनताके नियुक्त किये हुए होते हैं जिससे निश्चित रूपसे कोई निश्चय नहीं कर सकते। ऐसा प्रत्येक कानून अप्रमाणिक है जिसे स्वयं जनताने न स्वीकार किया हो। कारण यह कि, कानून सार्वजनिक इच्छाके सिवा और कुछ नहीं

हैं और इच्छाका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। इसीसे जब कोई राष्ट्र कानून बनानेके लिये प्रतिनिधि नियुक्त करता है तब स्वतन्त्र नहीं रह जाता और वह फिर राष्ट्र भी नहीं रहता।

ऊपर जो बातें कही गयी है वे वस्तुतः ठीक ही हैं। परन्तु यह मत जो लोग मानते हैं उनका साथ ही यह भी मत है कि, राज्यका विस्तार एक नगरसे बड़ा न होना चाहिये। और सच पूछिये तो इतने छोटे राज्यमें ही ऐसा सम्भव भी है कि, सभी नागरिक कोई कानून बननेके समय एकत्र हो प्रत्यक्ष सम्मति दे सकें। इसीसे ऊपर लिखी हुई रायके लोग राज्यका जितनाही अधिक विस्तार देखते हैं उतना ही शीघ्र नष्ट भ्रष्ट होनेवाला समझते हैं, क्योंकि विस्तृत राज्योंमें राज्यके सभी लोग कोई कानून बनाते समय एकत्र नहीं हो सकते और वैसा न होने और थोड़ेसे प्रतिनिधियोंके हाथमें सार्वजनिक इच्छा प्रकट करनेका अधिकार आ जानेसे सार्वजनिक हितके स्थानमें वैयक्तिक स्वार्थोंकी भरमार हो जाती है। छोटे राज्योंमें जनताको एक स्थानपर एकत्र हो कानून बनानेमें सुभीते तो हैं, पर उसमें भी आपत्ति यह होती है कि, नगरके बराबर जो राज्य होंगे अपनेसे बहुत बड़े राज्योंसे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे? इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करनेके लिये दो बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि, यदि छोटे राज्यकी उपयोगिताका सिद्धान्त सर्वमान्य हो जाय, तो यह प्रश्न ही नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि उस दशामें सारे संसारके नगरतुल्य विभागके ही छोटे छोटे राज्य हो

जायेंगे और कोई विस्तृत राज्य होगा ही नहीं जिससे भय किया जा सके। परन्तु राज्योंके वर्त्तमान विस्तार और अवस्थाओंको देखते यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि, वर्त्तमान बड़े राज्योंके स्थानमें संसारभरमें ऐसे छोटे राज्य हो सकते हैं। यदि ऐसा नहीं हो सकता, तो निश्चय ही यह प्रश्न उत्पन्न होना अनिवार्य है कि, बड़े बड़े राज्योंके बीच छोटे राज्योंकी स्वतंत्रता कैसे सुरक्षित रह सकती है? छोटे राज्योंके पक्षपाती इसका उत्तर देते हैं कि, वे छोटे छोटे राज्य आपसमें समझौताकर एक प्रकारके संयुक्त राज्यकी रचना कर सकते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य अपने भीतरी मामलोंमें परम स्वतन्त्र हो और बाहरी शत्रुओंसे अपनी रक्षा करनेके लिये वे सब एक दूसरेका साथ देनेको तैयार रहें। ऐसी व्यवस्था उस दशामें तो सफल हो सकती है जब अमेरिकाके संयुक्त राज्यकी भांति बहुतसे छोटे छोटे राज्य एक दूसरेसे मिले हुए हों और उनकी संख्या इतनी अधिक हो कि, बाहरी शत्रुके आक्रमणके समय उनकी संयुक्त शक्ति इतनी अधिक हो सके कि किसी बड़ेसे बड़े राज्यके लिये उसपर विजय प्राप्त करना असम्भव हो जाय। परन्तु वर्त्तमान राज्योंकी रचना देखते इस प्रकारके संयुक्त राज्यके बनानेकी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती इस लिये ऊपर लिखी हुई स्कीमसे कार्य चलाना एक प्रकारसे असम्भव ही है।

यही कारण है कि,-वर्त्तमान समयमें लोगोंका ध्यान लोकमत प्रकट करनेके वर्त्तमान ढंगसे बाहर न जा मुख्यकर इस

बातकी ओर रहता है कि कौनसे उपाय किये जायं जिनसे वास्तविक लोकमत व्यक्त किया जा सके। आजकलके सभ्य राज्योंमे तो यही व्यवस्था है कि, कानून बनानेके लिये व्यवस्था सभा होती है जिसमे जनताके चुने हुए या राजाके नियुक्त किये हुए कुछ प्रतिनिधि होते हैं। उनका बहुमत (Majority) ही जनताका बहुमत समझा जाता और तदनुसार ही कार्य किया जाता है। इसमे सन्देह नहीं कि, नगर तुल्य छोटे राज्योंमें भी बहुमतकी प्रतिष्ठा होती है, यद्यपि उनमे प्रत्येक व्यक्ति वैयक्तिक कल्याणकी अपेक्षा सार्वजनिक कल्याणकी ओर ही मुख्य करके ध्यान रखता है जिससे सबकी इच्छा सार्वजनिक कल्याणकी होनेसे उस इच्छाके प्रकट करनेमे मतभेदकी कम और सर्वसम्मतिकी ही सम्भावना अधिक होती है। परन्तु जिन बातोंमे सर्वसम्मति न हो उनमे बहुसम्मतिका मान करनेकी व्यवस्था रखनी ही होगी। सर्वसम्मति या बहुमत वा बहुसम्मतिके लिये साधारण नियम क्या होना चाहिये, इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। यहां हम इतना ही कहना चाहते हैं कि, जब बहुतसे आदमी मिलकर कोई काम करते हैं, तो बहुसम्मतिद्वारा ही काम होनेमे सबको सुभीता होता है। राजाके पास कानून बनानेका अधिकार ही मुख्य शक्ति है और उसे कानूनोंद्वारा ही सब काम करने पड़ते हैं। कानून सार्वजनिक इच्छाके सिवा और कुछ नहीं होते। इसलिये कानून बनानेवाली सभामें राजाको प्रतिनिधि नियुक्त करनेका थोड़ा भी अधिकार देना दोषपूर्ण है, क्योकि अधिकार एक

ऐसी वस्तु है जिसका भोग करनेवालेकी इच्छा और अधिक अधिकार प्राप्त करनेकी होती है और इस प्रकारकी इच्छा होनेसे ऐसे राजाके स्वेच्छाचारी बननेमें कोई सन्देह नहीं, यह दूसरी बात है कि अधिकारभेदके अनुसार उसकी स्वेच्छाचारिताकी मात्रामें अन्तर आता रहे। इसीसे जो चतुर राजा अपना आधिपत्य स्थायी बनाना चाहता है वह कानून बनानेका काम एकमात्र जनताके ही हाथ दे देता है और उसके बनाये कानूनोंके द्वारा ही काम करता है। इसी प्रकार जिस राज्यके निवासी अपनी स्वतन्त्रता और इच्छाशक्ति अभंग बनाये रखना चाहते हैं वे यह कदापि नहीं सह सकते कि, राजाको कानून बनानेवाली सभामें कुछ प्रतिनिधि नियुक्त करनेका अधिकार प्राप्त हो। जिन राज्योंमें राजाको यह अधिकार प्राप्त भी है वहांके निवासी भी पूर्ण स्वतन्त्रताकी इच्छा करनेके साथ ही उससे यह अधिकार छीन लेनेका प्रयत्न सबसे पहले करते हैं। सच तो यह है कि प्रजापीड़क और स्वेच्छाचारी राज्योंके सिवा अन्य किसी राज्यमें यह बात नहीं देखनेमें आती कि राजा कानून बनानेके जनताके पूर्ण अधिकारमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप करे। जिस राज्यकी जनता कानून बनानेवाली सभामें राजाका एक भी प्रतिनिधि रखना सह सकती है, वह कदापि स्वतन्त्र नहीं हो सकती।

कानून बनानेके लिये प्रतिनिधिनिर्वाचन-प्रथा या जनताका अप्रत्यक्ष सम्मति देना दोषपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कारण यह कि उस अवस्थामें एक तो राज्यके निवासी प्रत्यक्ष रूपसे अपनी इच्छा नहीं प्रकट कर सकते और दूसरे प्रतिनिधियोंको सम्मति प्रकट करनेका अधिकार देकर वे फिर एकदम निश्चिन्त हो जाते हैं और वे प्रतिनिधि उनके नामपर मनमानी सम्मति देते रहते हैं जिससे जो कानून बनता है वह सार्वजनिक इच्छा प्रकट करनेवाला कदापि नहीं हो सकता और इसलिये वह एक प्रकारसे कानून ही नहीं होता। परन्तु फिर भी इस समय संसारके प्रायः कुल राज्योंमें प्रतिनिधियोंद्वारा ही कानून बनानेमें सम्मति देनेकी प्रथा प्रचलित है यद्यपि पिछले महायुद्धके फलस्वरूप अब प्रायः प्रत्येक राज्यके निवासी इसकी आवश्यकता समझने लगे हैं कि जितना भी अधिक सम्भव हो उतना ही प्रतिनिधियोंको किसी कानूनके बनानेमें कोई निश्चित सम्मति

२६० आदमियोंद्वारा निर्वाचित हुआ है। यदि कोई कानून बनानेके पक्षमें १३ ने राय दे दी और बहुमतसे कानून बन गया तो उसका अर्थ यह होगा कि कुल ३३८० आदमियोंकी सम्मति-द्वारा बना है। जिन १२ प्रतिनिधियोने उसके विरुद्ध सम्मति दी है वे ३१२० आदमियोंके प्रतिनिधि हैं। उनके सिवा यदि वे सम्मति देनेवाले प्रतिनिधि ऐसे हैं जिनके निर्वाचकोंमें जिन्होंने उनके चुनावके विरुद्ध राय दी थी वे २४०×१२= २८८० आदमी भी उस कानूनके विरोधी हैं, तो उस कानूनके पक्षमें तो १२५०० आदमियोमें केवल ३३८० ही ठहरे जब कि विरुद्ध ३१२०+२८८०=६००० आदमी ठहरेगे। इसके सिवा यदि कानूनके पक्षमें सम्मति देनेवाले १३ मेम्बरोके निर्वाचकोंमें यदि वे लोग भी कानूनके विरुद्ध हुए जिन्होने उन तेरह प्रतिनिधियों-के चुनावके विरुद्ध सम्मति दी थी, तब तो प्रतिनिधियोके बहुम-तसे पास हुआ कानून भी राज्यके निवासियोके बहुमतकी तो बात ही दूर रही, बहुत ही अल्प सम्मति प्रकट करनेवाला होगा। जब यह कानून राज्यके अधिकांश व्यक्तियोकी इच्छा भी नहीं प्रकट करता तब वह सार्वजनिक इच्छाका द्योतक कैसे हो सकता और उस दशामें वह कानून ही कैसे कहला सकता है? इसी तथा अन्य प्रकारके और कई दोषोको समझ अब प्रायः प्रत्येक राज्यमें ऐसी व्यवस्था करनेकरानेका विचार होने लगा है जिसके अनुसार कानून बनानेका ऐसा ढंग हो जिससे वह कमसे कम राज्यके निवासियोंका बहुमत तो प्रकट करनेवाला हो। किस

तरह ऐसा होना सहजसाध्य होगा, इसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

२—प्रतिनिधि-निर्वाचन और वोट।

यद्यपि हम इस सिद्धान्तको सर्वोत्तम समझते हैं कि, जो कानून राज्यभरके हितार्थ वनाया जाय उसके बनानेमें कुल निवासियोको अपनी इच्छा प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट करनेका अधिकार होना चाहिये। परन्तु बड़े राज्योंके सभी निवासी प्रत्यक्ष रूपसे कहीं एकत्र हो अपनी इच्छा प्रकट नहीं कर सकते, इसलिये हमें बाध्य होकर कानून वनानेके लिये जो प्रतिनिधिनिर्वाचन-प्रणाली प्रचलित है, इसमें ही ऐसे सुधार करने होगे जिससे जहांतक सम्भव हो व्यवस्थापिका सभाके प्रतिनिधियोके बनाये कानून अधिकसे अधिक देशवासियोंकी इच्छा प्रकट करनेवाले हों। इसके लिये सवसे पहला प्रवंध तो यह होना चाहिये कि जव राज्यकार्य चलानेके लिये राज्यके प्रत्येक निवासीसे किसी न किसी रूपमें कुछ न कुछ कर लिया जाता है, तो आवश्यक है कि उस करके धनकी व्यवस्था करनेके लिये जो कानून आदि बनाये जांय उनके वनानेमें ऐसे सव लोगोकी ही राय ली जाय जो राय देने या अपनी इच्छा प्रकट करनेके योग्य है। कारण यह कि प्रत्येक मनुष्य जन्मसे ही स्वतन्त्र है और किसीको कोई

अधिकार नहीं है कि उसकी इच्छाके विरुद्ध उसे अपना दास बना ले। इसीसे हम अनेक देशोंमें प्रचलित प्रतिनिधिनिर्वाचनकी प्रणाली अत्यन्त पक्षपातपूर्ण, न्यायरहित और इसी लिये हानिकारी समझते हैं। जब राज्यके कुल निवासियोंके लिये कोई कानून बन रहा है, तो कुल निवासियोंको अपनी इच्छा प्रकट करनेका अधिकार भी मिलना चाहिये। परन्तु बड़े राज्योंमें सम्भव नहीं है कि राज्यके कुल निवासी किसी सभामें एकत्र हो प्रत्यक्ष इच्छा प्रकट कर सकें और एकमात्र उपाय चुने हुए प्रतिनिधियोंद्वारा इच्छा प्रकट करना ही है। इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि, उन प्रतिनिधियोंके चुनावमें राज्यके सब निवासियोंको वोट या सम्मति देनेका अधिकार प्राप्त हो। विद्या, धन, कर आदिकी योग्यताका पख लगा एक भी निवासीको इस प्रकारके अधिकारसे वंचित रखना प्रतिनिधि-निर्वाचनका स्वांग करनेके समान है। हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि, नाबालिग, पागल तथा ऐसे व्यक्तिके सिवा जो किसी मानसिक विकारके कारण अपनी इच्छा प्रकट करनेमें असमर्थ है, प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिनिधियोंके निर्वाचनके विषयमें मत देनेका अधिकार होना चाहिये परन्तु इतनेहीसे काम नहीं चल सकता। प्रतिनिधि निरन्तर अपने चुननेवालोंकी इच्छा और विचार ही प्रकट किया करें, इसके लिये कोई समुचित व्यवस्था करनेकी भी बड़ी आवश्यकता है। कारण यह कि, जो राज्य आज स्वतन्त्र कहे जाते हैं उनमें भी कोई ऐसी समुचित व्यवस्था देखनेमें नहीं आती

जिसके कारण कहा जा सके कि, किसी देशके निवासियोंके चुने हुए प्रतिनिधि जो विचार प्रकट कर रहे हैं वे देशवासियोंके विचार हैं। उन स्वतन्त्र देशोंमें चुनावके समय तो अवश्य ही मेम्बरीके उम्मेदवार वोट या मत प्राप्त करनेके लिये चुननेवालों-को सब प्रकारसे विश्वास दिलाते हैं कि मेम्बर बननेपर वे उनके विचार व्यवस्थासभामें प्रकट किया करेंगे और जबतक चुनाव नहीं हो जाता तबतक निर्वाचक भी पूर्णरूपसे स्वतन्त्र होते हैं। किन्तु चुनाव हो जानेके बाद प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि, प्रतिनिधि अपने निर्वाचकोंके विचारोंकी कुछ परवाह न कर स्वेच्छानुसार मत प्रकट किया करता है।

वर्त्तमान प्रतिनिधिनिर्वाचन-प्रणालीका एक बहुतही बड़ा दोष यह है कि, प्रतिनिधियोंका चुनाव वर्षोंके लिये किया जाता है। इसका बुरा परिणाम यह होता है कि, जितने दिनोंके लिये चुनाव होता है उतने दिनोंतक प्रतिनिधिगण अपनेको परम स्व-तन्त्र और सुरक्षित समझते हैं और ऐसी व्यवस्था प्रायः नहीं

च्छाचारी होते हैं वे निर्वाचकोके अनुरोध करनेपर भी उनके प्रतिनिधित्वसे इस्तीफा नहीं देते और जितने दिनों फिर नया निर्वाचन नहीं हो जाता उतने दिनो अपने निर्वाचकोकी छातीपर मूंग दला करते हैं। इसीसे निर्वाचन सम्बन्धी उक्त दोषोंको दूर करनेके लिये वर्त्तमान प्रणालीमे बहुत अधिक सुधार करनेकी आवश्यकता है। कानून सर्वसाधारणकी इच्छाके सिवा और कुछ नहीं होते या यो कहिये कि और कुछ न होने चाहिये। यह तभी सम्भव है जब राज्यके मत दे सकने योग्य प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिनिधि चुननेका अधिकार प्राप्त हो और वे प्रतिनिधि निरन्तर महत्वपूर्ण व्यवस्थाके सम्बन्धमे अपने निर्वाचकोका मत जानकर तब व्यवस्थासभामे मत प्रकट किया करें। एकमात्र ऐसा करनेसे ही व्यवस्थासभामे जनसाधारणका वास्तविक मत प्रकट हो सकता और यह निश्चय किया जा सकता है कि, अमुक व्यवस्थाके सम्बन्धमें लोकमत क्या है। दूसरी व्यवस्था यह होनी चाहिये कि, निर्वाचकोको निर्वाचनके पश्चात् भी पूरा अधिकार रहे कि, वे यदि अपने चुने हुए प्रतिनिधिको अपनी इच्छाके विरुद्ध मत प्रकट करते या आचरण करते देखे तो जब चाहें तभी उसे पद त्याग करनेको कह सकें और ऐसी दशामें उसे पदत्याग करना ही पड़े। साथ ही तीसरी व्यवस्था और उसमें यह भी होनी चाहिये कि, साधारणचुनाव वर्षोंके लिये न होकर कुछ महीनोके ही लिये हुआ करे जिससे प्रतिनिधियोको अपने पदका गर्व कम हुआ करे।

(क) प्रतिनिधिका कर्त्तव्य।

मनु महाराज कहते हैं कि,—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी॥
यत्र धर्मोह्यऽधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥

(मनु० अ० ८ श्लोक १३, १४)

अर्थात् या तो सभामें न जावे और जावे तो सच कहे। कुछ न बोले या झूठ बोले, तो मनुष्य पापका भागी होता है। जिस सभामें सदस्योंके देखते हुए धर्म, अधर्मसे और सच, झूठसे नष्ट होता है, वहांके सभासद् (उस पापसे) नष्ट हो जाते हैं।

ऊपरके नीतिवाक्योंसे स्पष्ट है कि सभासद्के ऊपर कर्त्तव्यपालनका बड़ा भारी भार होता है। तिसपर भी यदि व्यवस्थासभाका सभासद् किसी व्यवस्थाके सम्बन्धमें भय या संकोचके वश चुप रहे या झूठ बोले, तो निश्चय ही वह बड़ा पापभागी होता है। कारण यह कि, यदि राजा या राज्याधिकारीके भयवश प्रतिनिधि स्पष्ट विचार न प्रकट करेगा तो मानो वह कानून बनानेमें जनताके उतने आदमियोंकी राय नहीं मालूम हो रही है जितने मनुष्योंद्वारा वह चुना गया है। जब कानून जनताकी इच्छाके सिवा और कोई वस्तु ही नहीं, तब स्पष्ट

है कि, जनप्रतिनिधि निर्वाचकोंकी सम्मति प्रकट करनेमें जितने ही पीछे रहेंगे उतना ही वे उस कानूनको यथार्थ बनानेमें बाधा डालेंगे। यदि व्यवस्था सभाके अधिकांश सभासद् ऐसा ही कर बैठें तो उसका फल यही हो सकता है कि, अधिकारी कोई कानून पास करना चाहें तो व्यवस्था सभासे करा तो लेंगे, किन्तु वह सार्वजनिक इच्छाका द्योतक कदापि न होगा। फलस्वरूप जनसाधारणमें उससे असन्तोष पैदा होगा और वही असन्तोष अशान्तिका जन्मदाता बन राज्यके नष्ट भ्रष्ट होनेका कारण सिद्ध हो सकता है। इसतरह जब प्रतिनिधियोंके कर्त्तव्यभ्रष्ट होनेसे राज्यका नाशतक हो जाना सम्भव है तब यदि विचारदृष्टिसे देखा जाय तो कर्त्तव्य-च्युत सभासद् या प्रतिनिधि घोर राजद्रोही ठहरे बिना नहीं रह सकते। यही कारण है कि सुप्रसिद्ध नीतिकार विदुर महाराजने धृतराष्ट्रसे कहा है कि,—

> सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
> अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

अर्थात् संसारमें सदा चापलूसीकी बातें करनेवाले जनोंकी कमी नहीं है। किन्तु ऐसे आदमी दुर्लभ हैं जो हितकी बात अप्रिय होनेपर भी कहें और न ऐसे पुरुष ही अधिक हैं जो ऐसी हितकर अप्रिय बात सुनें।

वैसे तो चापलूसोंकी कमी कहीं भी नहीं होती है और श्रीमानोंके तो ये महात्मा सदा साथ ही लगे रहते हैं। परन्तु

जो देश स्वाधीनता खो पराधीन हो चुके हैं उनके निवासी न तो स्वतन्त्र ही रह जाते और न प्रायः उनकी अपनी इच्छा ही कोई पूरी होती है। उन्हें सदा दूसरोकी इच्छाओंका दास बन समय बिताना होता है। ऐसे देशोमें पहले तो कानून बनानेके लिये जनप्रतिनिधियोका नाम ही नाम रहता है और दूसरे जो जनताके चुने हुए प्रतिनिधि होते भी हैं वे अधिकारियोके भय या चापलूसीसे ही मत दिया करते हैं। ऐसे देशोमें कानून बनाते समय परस्परका विचार तो दूर रहा सदा अधिकारियोकी अटल इच्छाका राज्य होता और उसके अनुसार बने हुए कानूनकी या तो लोग मुक्तकण्ठसे प्रशंसा ही करते या उसके लिये श्राप ही देते हैं। परन्तु यह तो गये घरोकी बात है। परमात्माने तो प्रत्येक मनुष्यको स्वतन्त्र बनाया है इसलिये उसकी मर्जी बिना किसी मनुष्यको कोई भी अपना दास (गुलाम) नहीं बना सकता। सारांश यह कि जो मनुष्य परमात्माकी दी हुई किसी मनुष्यकी स्वतन्त्रताका हरण करता है वह परमात्माका द्वेषी है। साथ ही परमात्माकी दी हुई स्वतन्त्रता दूसरेके हाथ बेचनेवाला मनुष्य भी कम अपराधी नहीं ठहर सकता। अवश्य ही इस संसारमें सदा शक्तिसम्पन्न लोगोकी तूती बोलती रही है इसलिये निर्बलोको कभी स्वतन्त्रता जैसी शुभ वस्तुका सुख भोगनेका सौभाग्य अधिक समयतक नहीं प्राप्त होता। परन्तु हमारे कहनेका तात्पर्य केवल यही है कि, मनुष्यको यदि परमात्माकी दृष्टिमें अपराधी नहीं बनना है तो उसे चाहिये कि वह ईश्वरसे मिली

हुई वस्तु स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेमें किसी प्रकारका प्रमाद न करे और मरनेके समयतक उसकी रक्षा करता रहे। संयोग-वश यदि ऐसी स्थितियोंमें उसने जन्म लिया है जिसमें पहलेसे ही उसकी स्वतत्रता हरण की जा चुकी है तो उसका परम धर्म है कि ऐसी स्थितियोंको दूर करनेके लिये अपनी सारी शक्तियोको काममे लावे। किसी एक व्यक्तिकी स्वतन्वता हरण करने-वाले अर्थात् किसी मनुष्यसे अपनी गुलामी करानेवाले व्यक्ति जव ईश्वरद्रोही हैं, तव सहज ही परिणाम निकल सकता है कि, किसी देशभरकी जनताको उसकी इच्छाके विना अपनी अधीनतामें करने या रखनेवाले लोग परमात्माके कितने कट्टर शत्रु हैं। इसीतरह जो व्यक्ति स्वयं किसीका दास वनता है उसका अपराध उतना अधिक नहीं होता जितना तव होता है जव वह ऐसी स्थितियोके हटानेमें उद्योग करते करते मर जाने-तकको नहीं तैयार होता जिनके कारण उसका सारा जीवन तो पराधीनतामें वीतता ही है, साथ ही उसके वंशजोके लिये उनके जन्मके पहलेसे ही पराधीनताकी वेड़ी वनी तैयार रहती है। वैसे तो पराधीनता सभी वातोमें मनुष्यको मनुष्यत्वसे गिराने-वाली घृणित वस्तु है, किन्तु शासनके सम्वन्धमें तो यह अत्यन्त ही हानिकारी है। पराधीन देशके शासनके लिये जो कानून वनाये जाते हैं वे नाममात्रके लिये ही कानून होते हैं, क्योंकि वे सार्वजनिक इच्छाके द्योतक कदापि नहीं हो सकते।

———

(ख) वोट या मतकी व्यवस्था ।

परन्तु गये घरोकी वाते छोड़ जब हम यह सोचते हैं कि, स्वाधीन देशोमें भी प्रतिनिधिनिर्वाचक प्रणाली दूषित है तब वर्त्तमान अवस्थामें सार्वजनिक इच्छा प्रकट करनेका एकमात्र यही उपाय दिखाई पड़ता है कि वोट याप्रतिनिधियोके सम्मति प्रकट करनेकी उचित व्यवस्था हो । जब कोई कानून बनानेमें जन-प्रतिनिधियोकी सर्वसम्मति न प्राप्त हो तब एक ही मार्ग रह जाता है और वह है बहुमतका सम्मान करना । हां, बहुमतके अनुसार काम करते समय भी दो मुख्य बाते ध्यानमें रखनी आवश्यक हैं । पहली तो यह कि, प्रस्ताव जितना ही अधिक महत्वपूर्ण और बहुमूल्य हो उसे पास करनेके लिये उतना ही अधिक इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि यदि सर्वसम्मति नहीं होती है तो बहुमत भी इतना अधिक हो कि वह सर्वसम्मतिके अत्यन्त निकटतक पहुंचता हो। ऐसे प्रस्तावोके पास करनेके लिये वोटोकी जो कमसे कम संख्या निश्चित की जाय वह इसी ढंगसे हो । दूसरी बात यह कि, साधारण और तुरन्तके आवश्यक मामलोमें साधारण बहुमत ही पर्याप्त समझा जाय ।



पांचवां अध्याय ।

१—शक्ति ।

राज्य कार्य-निर्वाहार्थ किन शक्तियोंकी आवश्यकता होती है, इसका कुछ विस्तृत विवरण आगे चलकर किया जायगा, यहां हमें शक्ति या वलके सम्वन्धमें कुछ विचार करना है । अंग्रेजी भाषामें दो शब्द है–माइट(Might) और राइट (Right) । माइटको लोग साधारणतः 'पशुवल' और 'राइट'को 'न्यायवल' कहा करते हैं । हम इन्हे क्रमसे 'शरीरवल' और 'आत्मवल' या 'न्यायवल' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं । वहुत प्राचीनकालमें (Might) माइटका नाम 'क्षत्रियवल' और (Right) राइटका 'ब्रह्मवल' था । हमारी दृष्टिमें माइटका 'पशुवल' नाम तभी सार्थक हो सकता है जव उसका प्रयोग राइट या 'न्यायवल'के विना या उसके विरुद्ध किया जावे । किन्तु यदि 'शरीरवल'को 'न्यायवल'के साथ काममे लाया जाता है, तो उस दशामें उसे 'पशुवल' नाम देना अत्यन्त अनुचित ही नहीं, हमारी समझसे एक घोर पाप करना है । कारण यह कि, 'पशुवल' नाम देनेसे वह तिरस्करणीय जँचने लगता है और निश्चय ही काम क्रोध लोभ मोहके विकारोंसे परिपूरित इस संसारमे जनसाधारणका शरी-

रबल'का केवल इसलिये ही तिरस्कार कर देना कि वह 'पशुबल' है, उनकी अवनतिका प्रथम चिह्न समझना चाहिये। सच पूछिये तो आजकल जो सभ्य संसारमें निरन्तर यह प्रश्न उठाया जाता है कि, Might is Right or Right is Might अर्थात् 'शरीरबल' प्रधान है या 'न्यायबल'? और इसका जो प्रायः उत्तर दिया जाता है कि, 'न्यायबल' प्रधान है, इस भ्रमपूर्ण प्रश्न और उत्तरका एकमात्र कारण भी यही जान पड़ता है कि, लोगोंने माइटको 'पशुबल' नाम दे रखा है। साधारण अवस्थाओंमें किसी व्यक्तिका भी यही समझ लेना कि 'माइट' सदा ही पशुबल होता है अत्यन्त हानिकारक है, फिर राज्यकार्य-निर्वाहमें यह भ्रममूलक धारणा करना तो राज्यके मस्तकपर कुठा-

किन्तु यदि इस प्रकारके दवानेमें न्यायवल उसके साथ नहीं है, तो निर्बल वहुत दिनोंतक उसके दवावमें नहीं रह सकते और जिस समय उनके हृदयोंमें न्यायवलकी जागृति पैदा हो जाती है उस समय वहुतसे हीनवलवालोंका शरीरवल मिलकर दवानेवाले उस सर्वप्रधान शरीरवलवालेसे बढ़ जाता और हृदय में पैदा हुई न्यायवलकी जागृति उन्हे-प्रवलके दवावसे निकलनेके लिये उसका वंधन तोड़नेके कार्यमें सहायता देती है। इसी प्रकार न्यायवलवालेके लिये भी शरीरवल सदा अपेक्षित है। प्रत्येक मनुष्यके शरीरके भीतर दोनों ही प्रकारके वल पाये जाते हैं—पर यह दूसरी वात है कि, किसीमें कोई वल प्रधान होता है और किसीमें कोई। सच तो यह है कि, दोनो वलोंके संयोग विना मनुष्य ही नहीं वन सकता, क्योंकि यह तो बच्चा बच्चा जानता है कि, जिस प्रकार जीवात्माके विना मनुष्यकी इतनी वड़ी देह व्यर्थ होती है इसी प्रकार देहके विना जीवात्मा अपना जौहर नहीं दिखा सकती। इसमें संदेह नहीं कि आत्मवलवाला मनुष्य निर्वल होनेपर भी अनेक अवसरोंपर वड़े वड़े वलियोंसे सामना-कर विजय प्राप्त कर लेता है। परन्तु वहां भी तो—थोड़ा ही क्यो न सही—शरीरवल अपेक्षित होता है। न्याय या सत्यके लिये निष्क्रिय प्रतिरोध अथवा सत्याग्रह करना भी तो तभी कुछ फल ला सकता है जव शरीरमें इतना वल हो कि अपने प्रणपर अटल रहनेके लिये कुछ समयतक तो कष्ट सहनेकी क्षमता हो। जिस समय शरीरवलसे मनुष्य सर्वथा शून्य हो जायेगा निश्चय ही

उस समय आत्मा भी पुराने वस्त्रकी भांति उसका चोला त्याग नया चोला पहन लेगी। इन्हीं वातोंके विचारसे हमारा दृढ़ सिद्धान्त यह है कि न्यायबल और शरीरवलका अङ्गाऽङ्गी सम्बन्ध है।

आर्य सभ्यता सवसे प्राचीन स्वीकार की जा चुकी है। धार्मिक विषयोंमें वालकी खाल निकालनेवाले भी आर्योंसे वढ़-कर कदाचित् कहीं कोई भी न मिलेगा। परन्तु समाज तथा राज्यके कार्य-निर्वाहार्थ उन्होने भी जो व्यवस्थाएं कर रखी थीं, वे भी हमारे उक्त विचारके अनुकूल ही थीं। और तो और उनकी वर्णव्यवस्थासे भी तो हमारे उक्त विचारका ही समर्थन होता है। यदि शरीरवलको वे सदा पशुवल ही समझते होते तो कौन कह सकता है कि वे उस वलको धारण करनेवाली क्षत्रिय जातिको ही मुख्यकर राज्याधिकारी स्वीकार करते? यदि वे सदा सर्व-कालके लिये न्यायवलको ही ठीक मानते होते, तो निश्चय था कि वे राज्य करना भी उन ब्राह्मणोंका ही धर्म निश्चित करते जिनका मुख्यवल वहुत प्राचीनकालसे न्यायवल ही रहा है। परन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया, इसका एकमात्र कारण राज्यकार्यमें शरीरवलकी अत्यावश्यकता स्वीकार करना ही था। शरीरबल-के धारण करनेवाले क्षत्रिय राज्याधिकारी और न्यायवलवाले ब्राह्मण उनके प्रधान परामर्शदाता होते थे। इससे भी स्पष्ट है कि दोनो वलोंके विना कार्य ठीक ठीक नहीं हो सकता। राज्यकार्यमें तो पग पगपर शरीरवल आवश्यक हुआ करता है।

शरीरवलधारी क्षत्रियके राजा होनेके सिवा देशकी भीतरी शान्ति और वाहरी आक्रमणोसे रक्षाके कार्य भी तो इसी शरीर-वलद्वारा होते हैं। प्रत्येक राज्यमें भीतरी शान्ति वनाये रखनेके लिये एक शक्ति होती है जो पुलिस कही जाती है तथा मुख्यकर विदेशियोके आक्रमणसे देशको सुरक्षित रखनेके लिये सेना होती है। वे सभी तो शरीरवलकी प्रतिनिधि हैं। इसतरह स्पष्ट है कि, शरीरवल राज्यका एक मुख्य भाग है और उसके विना कोरे न्यायवलसे उसका कार्यनिर्वाह होना असम्भव है।

जव राज्यकार्यनिर्वाहार्थ शरीरवलकी आवश्यकता मिट नहीं सकती, तव यह कैसे माना जा सकता है कि, शरीरवल पशुवल है और न्यायवल ही यथार्थ वल है? जैसा हम ऊपर प्रकट कर आये हैं, हमारी रायमें तो इन दोनो वलोका अङ्गाऽङ्गी सम्बन्ध है। अवस्थाके अनुसार कभी कोई वल कार्योपयोगी सिद्ध होता है और कभी कोई। केवल एकके सहारे वैठ रहनेसे सम्भव है कि कभी कार्य भी सिद्ध हो जाय, किन्तु वैसा करना होता है वहुत आपत्तिजनक और सन्देहपूर्ण। संसारका त्याग किये हुए किसी महात्माके लिये दममें दम रहतेतक एकमात्र न्याय-वलका आश्रय लेना सम्भव है कि उसे विशेष हानिकर न हो, किन्तु जहां प्रश्न उपस्थित राज्यके कुल निवासियोके कल्याणका है वहां कोरा न्यायवल ही पर्याप्त और कार्यसाधक नहीं हो सकता। इसीलिये किसी नीतिकारने कहा है :—

शस्त्रविद्या स्वभावेन सर्वाभ्योस्ति महीयसी।

शस्त्रेण रक्षिता राज्ये शास्त्रचिन्ता प्रवर्त्तते ॥

अर्थात् सब विद्याओंसे शस्त्रविद्या स्वभावसे ही बड़ी है। शस्त्रद्वारा रक्षित होनेपर राज्यमें विद्याप्रचार किया जा सकता है। सच पूछिये तो विना शस्त्र या शरीरबलके कोई राज्य दूसरे राज्योंसे अपनी रक्षा करनेमें समर्थ ही नहीं हो सकता। राजनीति सांसारिक जनोंका व्यापार है और मनुष्य कितनी ही आत्मोन्नति क्यों न कर ले, वह जबतक मनुष्य है तबतक काम-क्रोध लोभ मोहके दोषोंसे सर्वथा ही रहित नहीं हो सकता। इसलिये जबतक सारे संसारमें न्यायबलका आधिपत्य न स्थापित हो जाय तबतक किसी जाति या व्यक्तिसमूहका राज्यसम्बन्धी बातोंमें शरीरबलको सदा पशुबल समझ एकमात्र न्यायबलके भरोसे ही बैठ रहना सदाके लिये पराधीनताकी बेड़ी पहननेके समान है।

२—हिंसा और अहिंसा।

साधारणतः सभी प्राणियोंकी और मुख्यतर मनुष्योंकी हिंसा करना सभी धर्मों और समाजोंने पापकर्म ठहराया गया है। 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' अर्थात् दूसरोंको पीड़ा पहुंचाना पाप और परोपकार करना पुण्य है, यह सिद्धान्तवाक्य केवल भगवान् वेदव्यासजीहीकी निजु सम्पत्ति नहीं है, वर

सभी धर्मोंका यह मूल सिद्धान्त है। परन्तु इतनेपर भी हिंसाका राज्य संसारसे नहीं उठ गया है और रातदिन बलवान् निर्बल प्राणियोंकी हिंसा करनेमें निमग्न देखा जाता है। ऐसी अवस्थामें जिज्ञासुओंके सामने बड़ा ही पेचीला प्रश्न उपस्थित होता है और वे, क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है, इस चक्करमें पड़ व्याकुल हो जाते हैं। जिस समय मनुष्य 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' (गीता), 'न पापे प्रति पापः स्यात्' (महाभारत), 'शान्तिसे ही दुष्टोंका निवारण कर देना चाहिये (बौद्धमत) और 'तू अपने शत्रुओंपर प्रीतिकर' तथा 'कोई एक कनपटीपर मारे तो दूसरी भी आगे कर दे' (बाइबिल) आदि वाक्य पढ़ हिंसात्यागकी शिक्षा ग्रहण करता है उस समय निश्चय ही उसके ऊपर अहिंसाका पूरा प्रभाव जम जाता है और वह हिंसाके साधन शरीरबलको पशुबल ठहरा अहिंसाके साधन न्यायबलको ही अपनाना अपना परम कर्त्तव्य समझने लगता है। उसको संसारभरके प्राणियोंमें एक समान ही आत्मा दिखाई पड़ती है, इसलिये अपना सर्वस्व नष्ट होता देख भी वह महाभारतके अर्जुनके समान मोह-ग्रस्त हो कहने लगता है कि, मेरे सम्मुख आये हुए शत्रु मुझे मार ही क्यों न डालें, पर मैं तो इनकी हिंसाकर पापभागी न बनूंगा। एक अर्जुनका ही नहीं, प्रायः प्रत्येक देशके इतिहासमें इस प्रकारके उदाहरण मिलेंगे। किन्तु प्रश्न तो यह है कि, क्या हिंसा सदा सर्वत्र निन्दनीय और त्याज्य तथा अहिंसा प्रशंसनीय और ग्राह्य है? यदि इसका उत्तर 'हां' में दिया जाय तब तो

संसारभरमे सत्ययुग विराजने लगे, क्योंकि जब सभी अहिंसा-व्रतके व्रती हो जायेंगे, तो मनुष्यमात्रके हृदयमे 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का सिद्धान्त स्थान पा जायेगा और उस दशामे न तो कोई शासक रह जायगा और न कोई शासित। कुल संसारमे सर्व-समानता और भ्रातृभाव फैल जायगा और प्रत्येक मनुष्य विना किसी छेड़छाड़के यह शरीरयात्रा समाप्त करता हुआ मोक्षको प्राप्त हो जायेगा। परन्तु सिद्धान्तरूपमें यह अहिंसा और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' चाहे कितना ही चित्ताकर्षक क्यो न हो, पर अभीतक संसारभरके मनुष्योंको क्रियारूपमें न यह कभी ग्राह्य हुआ है और न वैसा होनेकी शीघ्र कोई सम्भावना ही दिखाई पड़ती है। इसीलिये जहां हिंसात्याग मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य बताया गया है, वहां संसारकी वर्त्तमान अवस्थाको देखते अनेक अवसरोपर 'हिंसा' हिंसा नहीं मानी जाती है। सबसे प्राचीन नीतिशास्त्र मनुस्मृतिमें (अध्याय ८, श्लोक ३५० और ३५१) स्पष्ट आज्ञा है कि,—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन्॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥

अर्थात् गुरु वा बालक वा वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण इनमें कोई भी हो जो आततायी होकर आवे उसको राजा विना विचारे शीघ्र ही मारे। लोगोके सामने वा एकान्तमें मारनेको तैयार

हुएके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि वह क्रोध उस क्रोधको प्राप्त होता है। इसतरह आततायियोंके वधमें हिंसा नहीं मानी गयी है। वे आततायी कौन हैं? "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेतेह्याततायिनः" ॥ अर्थात् अग्निसे स्थानादि जलानेवाला, विष देनेवाला, (मारनेको) शस्त्र हाथमें लिया हुआ, धन छीननेवाला, खेत और स्त्रीका हरनेवाला—ये छः आततायी हैं। उसी स्थानपर मनुस्मृतिमें स्पष्ट आज्ञा है, कि ;—

"शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मोयत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ।
स्त्री विप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥"

इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मणादि तीन वर्णोंको शस्त्रग्रहण करना चाहिये जिस समय कि वर्णाश्रमियोंका धर्म रोका जाता हो और त्रैवर्णिकोंके मध्य विप्लव अर्थात् बलवेमें। और अपनी रक्षाके लिये, दक्षिणाके छीननेपर, स्त्रियों और ब्राह्मणोंकी विपत्तिमें धर्मानुसार शत्रुओंकी हिंसा करनेवाला दोषभागी नहीं होता। रामायणमें भी श्रीरामचन्द्रने वालिसे कहा है कि, "अनुजवधू भगिनी सुत नारी। सुनु शठ ये कन्या सम चारी ॥ इनहिं कुदृष्टि विलोके जोई। ताहि वधे कछु पाप न होई।" यही नहीं, श्रीमद्भगवद्गीताका तो उपदेश ही भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनका मोह दूरकर उन्हें अपने ही सम्बन्धियों, गुरुओं और पूज्योंका वध करनेके

लिये किया था। अर्जुन क्षत्रियका अपने शत्रुओंसे युद्धकर उन्हें पराजित करना एक मुख्य कर्त्तव्य था इसलिये उन्हें स्वधर्मसे पतित होते देख श्रीकृष्णजीने कहा था कि क्षत्रियके लियेयुद्धसे बढ़ और कोई धर्म नहीं है, इसलिये स्वधर्मपालनार्थ युद्धकर इन कौरवोंका वधकर। मनु महाराजने भी 'क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्' अर्थात् क्रोध करनेवालेपर भी क्रोध न करे, यह वाक्य न तो गृहस्थ धर्ममें ही कहा है और न राजधर्ममें ही। इसका उल्लेख तो यतिधर्ममें ही किया गया है। जो कर्म हमें दुःखदायी हो वही करके दूसरोंको दुःख न देनेका धर्म है तो ठीक, परन्तु जिस समाजमें इसकी जोड़के इस दूसरे धर्मके कि हमें भी दूसरे लोग दुःख न दें पालनेवाले न हों, उस समाजमें केवल एक पुरुष ही यदि इस धर्मको पालेगा, तो लाभके स्थानमें हानि ही होगी। बड़े ही आश्चर्यकी बात है, एक दुष्ट तलवार ले हमारा गला काटनेको चला आ रहा है और हम आत्मरक्षा करनेमें समर्थ होते हुए भी सर्व प्राणियोंकी आत्म-समानता और अक्रोध तथा अहिंसाका सिद्धान्त मान चुपचाप बैठे रहें और उसे अपना गला काटने दें! अवश्य ही जो सर्व-प्राणियोंकी आत्मसमानताके सिद्धान्तका स्वयं भी पालन करता हो उसके साथ हमें इस शुभ सिद्धान्तके विपरीत आचरण कदापि न करना चाहिये, क्योंकि समानता शब्द ही दो व्यक्तियोंके सम्बन्ध या सापेक्ष्य है। "परन्तु आततायी पुरुषोंको मार डालनेसे जैसे अहिंसा धर्मको बट्टा नहीं लगता, वैसे ही दुष्टोंका

उचित शासन कर देनेसे साधुओंकी साधुतामें भी कोई न्यूनता नहीं आती, वल्कि दुष्टोके अन्यायका प्रतीकारकर दूसरोंको वचा लेनेका श्रेय अवश्य मिल जाता है"। जिस परमेश्वरकी अपेक्षा किसीकी भी वुद्धि अधिक सम नहीं है, जव वह परमेश्वर भी समय समयपर दुष्टोका विनाश और साधुओंकी रक्षा करनेकी व्यवस्था किया करता है, तव और पुरुषोकी तो वात ही क्या है? हम तो यहांतक कहेंगे कि. यदि आत्महत्या करलेना कोई पाप है—और सभी लोग इसे पाप मानते हैं—तो आत्मरक्षामें समर्थ होनेपर भी 'क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्'का सिद्धान्त मान चुपचाप वैठे रह किसी दुष्टको अपने गलेपर खुशीसे तलवार चलाने देना अथवा उद्योग करनेसे ही आत्मरक्षाके लिये शक्ति संग्रह करनेमें समर्थ होनेपर भी अहिंसाका सिद्धान्त ले किंकर्त्तव्यमूढ़ हो वैठ रहना, आत्महत्या करनेसे किसी अंशमें न्यून नहीं है। प्रत्युत यदि वह दुष्ट केवल हमारी ही जानका भूखा नहीं है. किन्तु सारे समाजका शत्रु है, तो उसका वध कर उसके, अत्याचारोंसे समाजकी रक्षा न करना और भी अधिक पाप है। इसीसे भीष्मने भी परशुरामसे कहा है :—"यो यथा वर्त्तते यस्मिन् तस्मिन्नेवं प्रवर्त्तयन्। माधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति॥" इसका अभिप्राय यह है कि. अपने साथ जो जैसा वर्त्ताव करता है, उसके साथ वैसे ही वर्तनेसे न तो अधर्म (अनीति) होता है और न अकल्याण। (महा० उद्योग १७९—३०) फिर आगे चलकर शान्तिपर्वके सत्यानृत अध्यायमें वही उपदेश युधि-

ष्ठिरको किया है—"यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं सधर्मः। मायाचारो मायया वाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥" अर्थात् अपने साथ जो जैसा वर्त्तता है, उसके साथ वैसा ही वर्त्ताव करना धर्मनीति है; मायावी पुरुषके साथ मायावीपन और साधु पुरुषके साथ साधुताका व्यवहार करना चाहिये। यही कारण है कि 'शठं प्रतिशाठ्यं' या 'जैसेको तैसा' होना नीति वताया गया है।

हां, एक वात ध्यान देने योग्य है। दुष्टका प्रतिकार यदि साधुतासे हो सकता है, तो पहले साधुतासे ही करे। कारण यह कि दूसरा यदि दुष्ट हो, तो उसीके साथ हमें भी दुष्ट न हो जाना चाहिये। "किन्तु ऐसी साधुतासे यदि दुष्टके कर्मोंका निवारण न होता हो अथवा सामउपचार और मेलजोलकी वात दुष्टोंको नापसन्द हो, तो जो कांटा पुल्टिससे वाहर न निकलता हो उसे 'कण्टकेनैव कण्टकम्' के न्यायसे साधारण कांटेसे या लोहेके कांटे—सुईसे वाहर निकाल डालना चाहिये। हमारे धर्मग्रंथकार कहीं भी प्रतिपादन नहीं करते कि दुष्टताके आगे साधु पुरुष अपना वलिदान खुशीसे किया करे। सदा ध्यान रहे कि, जो पुरुष अपने बुरे कामोंसे परायेकी गर्दन काटनेपर उतारू हो गया, उसे यह कहनेका कोई भी नैतिक हक नहीं रह जाता कि और लोग मेरे साथ साधुताका वर्त्ताव करें। धर्मशास्त्रमें स्पष्ट आज्ञा है कि इस प्रकार जब साधु पुरुषोंको कोई असाधु काम लाचारीसे करना पड़े तो उसकी जिम्मेदारी शुद्ध-बुद्धिवाले साधु

पुरुषपर नहीं रहती, किन्तु उसका जिम्मेदार वही दुष्ट पुरुष हो जाता है जिसके दुष्ट कर्मोका यह नतीजा है। कहनेका सारांश यह कि, "यद्यपि यह अन्तिम सिद्धान्त है कि समस्त मानवजातिका–प्राणिमात्रका–जिससे हित होता हो वही धर्म है, तथापि परमावधिकी इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदि चढ़ती हुई सीढ़ियोंकी आवश्यकता कभी नष्ट होनेकी नहीं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ऐसी बुद्धि पानेके लिये कुलाभिमान, धर्माभिमान और देशाभिमान आदिकी आवश्यकता है: एवं समाजकी प्रत्येक पीढ़ी इसी जीनेसे ऊपर चढ़ती है इस कारण इसी जीनेको सदैव स्थिर रखना पड़ता है। ऐसे ही अपनी चारो ओरके लोग अथवा राष्ट्र जब नीचेकी सीढ़ीपर हों, तब यदि एक-आध मनुष्य या राष्ट्र चाहे कि मैं अकेला ही ऊपरकी सीढ़ीपर रहूंगा, तो उसकी भी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ऊपर कहा ही जा चुका है कि जैसेको तैसा न्याय वर्त्तना अधर्म नहीं है। ऐसी स्थिति संसारकी हो जाय कि सुधरते सुधरते जगत्‌के सभी मनुष्य प्राणिमात्रमें आत्माकी एकताको पहचानने लगें, ऐसी स्थिति प्राप्त करनेकी मनुष्यमात्रको आशा रखना कुछ अनुचित नहीं है। परन्तु आत्मोन्नतिकी यह स्थिति जबतक सबको प्राप्त हो नहीं गयी है, तबतक अन्यान्यराष्ट्रों अथवा समाजोंकी स्थितिपर ध्यान देकर साधु पुरुष देशाभिमान आदि धर्मोंका ही ऐसा उपदेश देते रहें जो अपने समाजोंको उन उन समयोंमें श्रेयस्कर हो। तब आत्मवादी या

निवृत्तिमार्गके पथिक हिन्दू धर्मने ही दुष्टोंका नाश करना हिंसा नहीं माना है तब अनात्मवादी या प्रवृत्तिमार्गके पथिक अर्थात् सांसारिक सुखोको ही जीवनसर्वस्व समझनेवाले अन्य धर्मों और समाजोंका तो कहना ही क्या है। ईसामसीहने निर्वैरत्वका उपदेश दिया है सही, पर उनके अनुयायी राष्ट्र कहांतक उसका पालन करनेमें समर्थ हैं, यह वात किसीसे छिपी नहीं है। सदा निर्वैरत्वके सिद्धान्तका आचरण करना अपने लिये सदाके लिये गुलामी खरीदनेके ही समान है। नीट्शे नामक जर्मन पंडितने इसीलिये लिखा है कि निर्वैरत्वका यह धर्मतत्त्व गुलामगिरीका द्योतक है। वचनसे चाहे कोई राष्ट्र नीट्शेसे मतभेद ही क्यों न प्रकट करता हो, किन्तु कार्यद्वारा संसारकी वर्त्तमान परिस्थितिमें सभी राष्ट्र उसके इस कथनसे सहमत दिखाई पड़ते हैं।

४—सेना और पुलिस।

ऊपर संक्षेपमें वताया जा चुका है कि, काम, क्रोध, लोभ, मोहकी खानि इस संसारमें एकमात्र क्षमा और अहिंसाहीसे सदा काम नहीं चल सकता। विशेषकर राज्यका कार्य तो इन अनुचित क्षमा और अहिंसासे कदापि नहीं चल सकता। सर्वसाधारणने मुख्यकर अपनी सब प्रकारसे रक्षा करनेहीके लिये प्रारम्भमें राज्यकी रचना की थी। यदि राज्य अपने भीतर निवास करनेवाले जनोंके जानमालकी भीतरी और वाहरी आ-

किसी प्रकारका दण्ड दे सके जबतक उसे न्याय करनेका भी अधिकार राज्यसे न प्राप्त हो। किसी भी अवस्थामें पुलिसके जो निम्न कर्मचारी अर्थात् कांस्टेबिल या चौकीदार होते हैं उन्हें तो किसी भी अपराधीके ऊपर किसी प्रकारका बल प्रयोग करनेका कोई अधिकार ही नहीं दिया गया है। हां, यदि अपराधी गिरफ्तार होनेसे बचकर भागनेकी चेष्टा करे, तो उसे पकड़ने और उसके भागनेके लिये अपने ऊपर चोट करनेकी अवस्थामें पुलिसको आवश्यकतानुसार बल प्रयोग करनेका अधिकार प्राप्त होता है जो आवश्यक और उचित भी है। परन्तु सोचा जाय, तो पुलिसको एक प्रकारसे बलप्रयोग करनेका कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं है। कारण यह कि आत्मरक्षाके लिये तो उसे क्या सभीको ही किसीके विरुद्ध बलप्रयोग करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अवश्य ही उसे अपराधियोंको गिरफ्तार करने आदिके सम्बन्धमें साधारणसे कुछ अधिक अधिकार होते हैं जिनकी प्रायः जनसाधारणको आवश्यकता ही नहीं होती। यही अवस्था सेनाकी है। साधारण अवस्थाओंमे उसको भी किसीकी जान या मालपर चोट पहुंचानेका कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता है। उसका काम केवल यही है कि वह युद्ध विद्यामें प्रतिदिन अभ्यास करती हुई प्रत्येक समय राज्यको मुख्यकरके वाहरी संकटोंसे रक्षा करनेके लिये तैयार रहे। 'मुख्यकरके' शब्दका व्यवहार यहां जानबूझकर किया गया है; क्योंकि यदि राज्यके भीतर स्वयं राज्यवासी ही राज्यके

कता पड़नेपर जो शक्तियां राज्यकी रक्षा करती हैं उन्हें स्वभावतः अपने महत्वका भारी गर्व हो सकता है। इसलिये उन्हें सीमाके भीतर रखनेका एकमात्र साधन यही है कि, उन्हें इतना अधिक अधिकार न दे दिया जाय कि वे स्वेच्छाचारिणी हो निरपराध जनोंको लूटने-खसोटने और उन्हें तंग करनेमें लग जायं। सेनासे तो सदा काम लेनेकी राज्यको आवश्यकता ही नहीं हुआ करती इसलिये उसे सीमाके भीतर रखनेके लिये तो राज्यको उसी समयके लिये विशेष प्रबन्ध करना पड़ेगा जब उससे काम लेनेकी आवश्यकता उपस्थित होती है। परन्तु पुलिससे तो राज्यको सदा ही काम लेना पड़ता है इसलिये इसकी ओरसे उसे सदा सावधानी रखनी होगी, पुलिसके निम्न कर्मचारी अर्थात् कांस्टेबिल और चौकीदार इतने अधिक संख्यामें रखने होते हैं और उनको इतना साधारण काम होता है कि, इन कामोंपर सुशिक्षित व्यक्तियोंको नियुक्त कर बहुत

कता पड़नेपर जो शक्तियां राज्यकी रक्षा करती हैं उन्हे स्वभावतः अपने महत्वका भारी गर्व हो सकता है। इसलिये उन्हें सीमाके भीतर रखनेका एकमात्र साधन यही है कि, उन्हे इतना अधिक अधिकार न दे दिया जाय कि वे स्वेच्छाचारिणी हो निरपराध जनोंको लूटने-खसोटने और उन्हे तंग करनेमें लग जायं। सेनासे तो सदा काम लेनेकी राज्यको आवश्यकता ही नहीं हुआ करती इसलिये उसे सीमाके भीतर रखनेके लिये तो राज्यको उसी समयके लिये विशेष प्रवन्ध करना पड़ेगा जव उससे काम लेनेकी आवश्यकता उपस्थित होती है। परन्तु पुलिससे तो राज्यको सदा ही काम लेना पड़ता है इसलिये उसकी ओरसे उसे सदा सावधानी रखनी होगी, पुलिसके निम्न कर्मचारी अर्थात् कांस्टेविल और चौकीदार इतनी अधिक संख्यामें रखने होते हैं और उनका इतना साधारण काम होता है कि उन कामोपर सुशिक्षित व्यक्तियोको नियुक्त कर वहुत अधिक धन तो खर्च नहीं किया जाता और न करनेकी आवश्यकता ही होती है इसलिये उन्हे कर्त्तव्यपरायण और ईमानदार वनाये रखनेके लिये आवश्यक है कि, उन्हे केवल इतना ही अधिकार दिया जाय कि वे रातदिन राज्यके भीतरके नगरों और गावोंमें घूम फिरकर अपनी जागरूकतासे अपराध करनेकी इच्छा रखनेवालोंको भयभीत करते रहे और यदि उनकी नजर वचा कोई आदमी कानूनके विरुद्ध अपराध करता देखा जाय तो उसे झट गिरफ्तार कर वे अपनेसे उच्च अफसरके पास ले जायें

जो उसे दंड दिलानेको क्रमसे हाकिम और न्यायाधीशके सामने पेश करे। पुलिसवालोंको ऐसा अधिकार कभी न दिया जाय कि, वे जनताके नौकर होकर भी अपनेको उसके स्वामी समझने लगें। देखनेमें तो पुलिसके निम्न कर्मचारियों अर्थात् कांस्टेबिलों और चौकीदारोंका काम बहुत साधारण जंचता है, पर सच पूछिये तो है वह बड़ी जिम्मेवारीका। कानूनके विरुद्ध काम करनेवालेको पकड़नेका काम प्रारम्भमें उन्हींको सौंपा हुआ होता है। दस बीस रुपये मासिकके प्रायः अशिक्षित नौकरसे यह आशा करनी भारी भूल है कि वह विना उचित प्रतिवन्धके सदा ईमानदार और कर्त्तव्यपरायण बना रहेगा। एक चोरको हजार रुपयेकी चोरी करके जाते हुए देख कांस्टेबिल पकड़ता है वह देख रहा है कि यदि इससे में कुछ रुपये ले छोड़ देता हूं, तो इसमें मेरा कुछ नहीं विगड़ सकता, क्योंकि यहां तो कोई देख नहीं रहा है। दूसरी ओर चोरको राजदण्डसे भारी भय हो रहा है इसलिये वह चोरीके कुल द्रव्य देकर छूट जाय तो वैसा करनेको वह सहर्ष तैयार है। ऐसी दशामें क्या यह विलकुल ही सम्भव नहीं कि कांस्टेबिल आठ दस वर्षकी अपनी तनख्वाहके बराबर धन एक साथ ही मिलता देख चोरको छोड़नेको तैयार न हो जायेगा? इसी प्रकार अन्य छोटेमोटे अपराध करनेवाले लोग भी कानूनके जबर्दस्त पंजेसे बचनेके लिये थोड़ा बहुत घूस (रिशवत) देकर छूटनेका प्रयत्न करेंहींगे और यदि दस बीस रुपयेके नौकर

कांस्टेबिलके ऊपर उचित प्रतिवन्ध न होगा, तो निश्चय ही वह घूसखोर वन कर्त्तव्यभ्रष्ट हो जायेगा। यही कारण है कि जिन देशोंमें पुलिसके निम्न कर्मचारियोंपर उचित प्रतिवन्ध रखनेकी व्यवस्था नहीं होती, वहां वे कितने ही लोगोंके देखते हुए चोरों, वदमाशों, डाकुओं तथा अन्य अपराधियोंसे मिलकर अपराध कराते हैं। जहां इस प्रकारसे रक्षक ही भक्षकका काम करने लग जाये वहां जनसाधारणकी जान और माल कैसे सुरक्षित रह सकता है?

लोभ या अन्य कारणवश जिस राज्यकी पुलिस अपराधियोंसे मिल कानूनके विरुद्ध अपराध कराती है उस राज्यमें अपराधोंकी संख्या वढ़ना स्वाभाविक ही है। ऐसी पुलिससे तो पुलिसका न होना ही अच्छा है। कारण यह कि उस अवस्थामें लोग अपने जानमालकी रक्षाका प्रवन्ध अपने आप तो करलेंगे। तव ऐसा तो न होगा कि वे जानमालकी रक्षाका भार दूसरे आदमियोंको सौंप सुखकी नींद लेते रहें और चोरों वदमाशोंसे मिल वे ही आदमी लूटते खसोटते रहें। जव हम जानते हैं कि आधी रातको विना किसी कारण-विशेषके हमारे मकानके पिछवाड़े किसीके आनेकी आवश्यकता नहीं है तव यदि हम किसीको आया देखेंगे तो हमें तुरन्त सन्देह हो जायेगा कि हो न हो, यह हमारी हानि करने-हीके लिये आया है। इसलिये उसे ललकारेंगे। परन्तु चोरोंसे मिले हुए हमारे रक्षक कहानेवाले कांस्टेविल ही यदि

उस समय वहां दिखाई देंगे तो प्रथम तो हम ही कोई सन्देह सहसा न होगा और यदि हो भी तो ललकारनेपर वे तुरन्त बोल देंगे कि इधर आदमी दिखाई पड़े थे इसलिये उन्हें चोर जान पकड़नेके लिये ही हम आये थे। इसतरह देख लिये गये तो ऐसा कह वहांसे चले आये और नहीं तो चोरको चोरी करनेमें सहायता दे रक्षकोंने ही भक्षकोंका काम किया। पुलिसके अपराधियोंसे मिल जानेके कारण केवल अपराधियोंहीके उपद्रव नहीं बढ़ जाते, वलिक एक बडी भारी हानि और पैदा होती है। अपराधियोंको पकड़ने और जनसाधारणकी रक्षा करनेहीके लिये पुलिस होती है। इसीसे उसकी प्रशंसा और कर्त्तव्यपरायणता भी तो इसीमें है कि वह होनेवाले अपराधियोंके अपराधोंका पता लगा उन्हे दण्ड दिलाये। जब 'चोरन कुतिया मिल गयी तब पहरा काको देय।' अपराधियोंसे तो पुलिस स्वयं मिली है, फिर उसे अपनी प्रशंसा तथा अपनेको कर्त्तव्यपरायण सिद्ध करनेके लिये होनेवाले अपराधोंका दण्ड दिलानेके लिये उसे निर्वल और निरपराधियोंको फंसानेकी सूझेहीगी। ऐसे आदमियोंको फंसा उनके विरुद्ध प्रमाण संग्रह करना भी उसके लिये कठिन नहीं है, क्योंकि झूठी गवाही आदि देनेके लिये वास्तविक अपराध करनेवाले उसके साथी तो हैं ही। उन साथियोंने जिस ढंगसे अपराध किया है उसके तो वे अभ्यस्त होते ही हैं इसलिये किसी निरपराधीको फंसानेके लिये आवश्यकता केवल इतनी ही होती है

कि अपराधीके स्थानमें उसको खड़ा कर दिया जाय। इन्हीं सब बातोंके विचारसे प्राचीनकालके इतिहासोंमें हम पढ़ते हैं कि, उच्चाधिकारियोंकी तो बात ही क्या, स्वयं राजा लोग भी अपने राज्योंमें रातको वेष बदलकर फेरा (गस्त) लगाया करते थे जिससे निश्चय ही उनके रखे हुए पहरुओंको अपराधियोंसे मिलनेका साहस एकाएक कभी नहीं हो सकता था। इतना ही नहीं, राज्यकी ओरसे ऐसे गुप्तचर रखे जाते थे जिनका काम ही यह होता था कि वे गुप्तरूपसे अपराधोंका पता लगा प्रतिदिन राजाको सारी बातें जा सुनाते थे। वर्त्तमानकालमें राजा तो सहजोंके दास हुआ करते हैं इसलिये वे गस्तफस्त तो लगाते नहीं, पर आज भी सभी देशोंमें गुप्तचरोंके

करेगा, तो निश्चय ही वह जनप्रिय न रह जायेगा और अमानुषिकताका अपराधी ठहरेगा। यही नहीं, यदि वह अधिक बल प्रयोग देशकी भीतरी अशान्ति दबानेके लिये करेगा, तो वह राज्य लोगोंकी दृष्टिमें अत्याचारी सिद्ध होगा और इस प्रकार अज्ञानवश अपनी प्रजाको दुःख देनेवाले राजाका राज्य तथा धनजन सब कुछ नष्ट हुए विना नहीं रह सकता।

५—गुप्तचर या खुफिया पुलिस।

देशमें शान्ति बनाये रखने और अपराधोंका होना रोकने तथा अपराधियोंको पकड उन्हें कानूनके अनुसार दण्ड दिलानेके लिये पुलिस तो होती है। किन्तु कौन नहीं जानता कि जो अपराध करनेमें अपना हित समझने लगते या यों कहिये कि जिन्होंने अपराध करनेका अपना पेशा ही बना लिया है, वे फिर भी अपराध करनेका कोई न कोई मार्ग निकालहीगे। हां, उन्हें जहां लोगोंकी नजर बचा अपराध करना पड़ता था वहां पुलिसके होनेसे वे या तो पुलिससे मिलकर ही अपराध करेंगे या उसकी भी नजर बचा लेंगे। अनेक अवस्थाओंमें अपराध करनेके बाद पुलिसकी नजरमें आ जानेपर भी वे उसे मिलनेकी चेष्टा करेंगे और जैसा हम पहले दिखा आये हैं साधारण अवस्थाओंमें पुलिसका उनसे मिल जानेकी भी बहुत कुछ संभा-

बना रहती है। इन्हीं बातोंके विचारसे तथा गुप्तरूपसे अपराधों और अपराधियोंका पता लगानेके लिये राज्यको गुप्तचरों या खुफिया पुलिसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। राज्यको भीतरी और बाहरी दो प्रकारके भय हुआ करते हैं इसलिये इस गुप्तचर विभागके भी भाग किये जाते है। देशके भीतर होनेवाले अपराधोंका पता तो फिर भी बहुत कुछ साधारण पुलिसद्वारा ही लग सकता है, किन्तु पास पड़ोसके राज्यों तथा अन्य देशोंमें हमारे राज्यके सम्बन्धमें लोगोंके क्या विचार हैं और कोई राज्य छिपे छिपे हमारे राज्यपर चढ़ाई करनेके लिये तैयारी तो नहीं कर रहा है, यह जानना किसी राज्यके लिये अत्यन्त कठिन है। इसलिये प्रत्येक राज्यको अन्य सभी राज्यों और विशेष-कर उन राज्योंमें अपने गुप्तचर रखने पड़ते हैं जिनसे किसी प्रकारके भयकी आशङ्का हुआ करती है। इनमेंसे पहला भेद

उसे सदा ही खूब चुने हुए चतुर और पक्के देशकालविद्को गुप्तचर नियुक्त करनेकी आवश्यकता होती है। साथ ही गुप्तचरोंको पहले दर्जेका ईमानदार और स्वामिभक्त होना अत्यन्त आवश्यक होता है। वे ऐसे होने चाहिये जो खुशीसे अपने प्राणोंको निछावर भले ही कर दे, किन्तु अपने स्वामीके घरका भेद किसीपर न प्रकट होने दे।

अपने देशके लिये राज्यकी ओरसे जो गुप्तचर रखे जाते हैं वे साधारणतः खुफिया पुलिसके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। इसके दो कारण होते हैं; एक तो राज्य उनका विभाग भी साधारण पुलिससे मिला हुआ सा रखता है और दूसरे उनका कर्त्तव्य भी पुलिसकासा ही होता है। कर्त्तव्य दोनोके एकसे हैं अन्तर केवल यही होता है कि पुलिस सर्वसाधारणके सामने प्रत्यक्ष होकर उनका पालन किया करती है और खुफिया या भेदिया पुलिस लोगोसे अपनेको छिपाकर। राज्यकी ओरसे इन दोनो विभागोकी यदि पृथक् पृथक् व्यवस्था रहे, तो खुफिया पुलिस अपने कर्त्तव्योका पालन अधिक ईमानदारीसे कर सकती है। किन्तु अपराधियोका पता लगा लेनेपर उनको गिरफ्तार करनेके लिये उसे साधारण पुलिसकी सहायता लेनी पड़ती है इसलिये अनेक अवसरोपर राज्यका मुख्य उद्देश्य सफल होनेमे बड़ी रुकावट होती है। पुलिससे सदा काम पड़नेके कारण दोनो पुलिसोंमें बहुत कुछ घनिष्टता हो जाती है जो राज्यके निवासियोके लिये हानिकारी है। खुफिया पुलिसके मिल

जानेसे साधारण पुलिस तो एकदम निर्भय हो जाती है, क्योंकि फिर वह चाहे जिस प्रकारसे स्वयं अपराधियोसे मिलकर अपराध करावे। क्योंकि उसे यह चिन्ता तो होती नहीं कि कोई हमारे अपराधों या अपराधियोको उत्तेजन देनेके कामको देखता है। ही खुफिया पुलिसके मिले होनेसे वह उससे उन अवस्थाओमें साथ आपका वड़ा काम निकाल सकती है जव वह अपराधियोसे मिल उनकी जगह निर्दोषोको अपराधी ठहरा दण्ड दिलाना चाहती है। जव खुफिया पुलिसकी रिपोर्ट भी किसी निर्दोषके विरुद्ध पहुंची और साधारण पुलिसने भी उसीसे मिलती हुई काररवाई उसके विरुद्ध की तव इन डवल शक्तियोंके जालसे किसी निर्दोषका छूटना सदा असम्भव नहीं तो महा कठिन अवश्य हो जायगा। इसलिये यदि वैसे दोनो पुलिसोका सम्वन्ध रखना, चाहे अनिवार्य ही क्यो न हो, किन्तु अपराधो-की गुप्तरूपसे जांचका काम तो तभी सम्भव है जव कुछ अत्यन्त विश्वासी, सदाचारी, निर्लोभ और प्रतिष्ठित व्यक्ति ऐसे रखे जायं जो मुख्यकर पुलिसके अपराधोकी ही जांच किया करे।

गुप्तचरोंका काम अत्यन्त महत्वका होता है। वे गुप्तरूपसे अपराधोकी जांचके लिये राज्यकी ओरसे रखे जाते हैं। यदि वे सच्चे स्वामिभक्त और ईमानदार न हुए, तो अपने कार्योंद्वारा वे राज्यका नाशतक कर डालनेके मूल कारण सिद्ध हो सकते हैं। राज्यके भीतर अपराधियोकी गुप्त जांच करनेवाले यदि साधा-रण पुलिससे मिल अपराधियोके साथ अपना मौज उड़ाने लगे और

उनकी जगह निर्दोष व्यक्तियोको फंसा फंसाकर अपनी कर्त्तव्य-परायणता दिखावें, तो कौन न कहेगा कि थोड़े ही दिनोमें वे अपने इस भयंकर व्यापारसे जनसाधारणके हृदयसे राज्यके न्यायके ऊपरसे विश्वास ही उठा देनेके कारण होगे। जब राज्यके न्यायसे ही लोगोका विश्वास उठ गया तो वह कवतक ठहर सकता है। इसीतरह यदि विदेशोमें गुप्तचरका काम करने-वाले लोग ईमानदार और सच्चे स्वामिभक्त न हुए तो वे दूसरे राज्योसे मिलकर अपना प्रवल स्वार्थसिद्ध करेंगे और ठीक समयपर अपने राज्यको धोखा दे उसके नाशतकके कारण हो सकते है। राज्यको अपने गुप्तचरोकी वातोंपर अनेक अंशोंतक विश्वास करना ही होता है, किन्तु उनकी वातें सोल-होआने सत्य मान जो राज्य अन्य प्रकारसे उनकी सत्यताकी पुष्टि करनेमें प्रमाद कर एकमात्र उन्हींकी वातोके आधारपर अपराधो और अपराधियोके लिये व्यवस्था करता है निश्चय ही उसे अनेक अवसरोपर अपने उन कर्त्तव्योसे भ्रष्ट होना पड़ेगा जिनके सुचारु रूपसे पालन करनेके लिये ही उसे गुप्तचरोकी व्यवस्था करनी पड़ती है।



छठा अध्याय।

१—राज्यका धनबल।

कहते हैं कि जब लोगोंने मनुसे राजा होनेकी प्रार्थना की तब पहले उन्होंने यही उत्तर दिया कि, 'अनाचारसे चलनेवालोंका शासन करनेके लिये राज्यको स्वीकार करके मैं पापमें नहीं पड़ना चाहता।' परन्तु जब लोगोंने यह वचन दिया कि, "तमब्रुवन् प्रजाः मा भीः कर्तॄनेनो गमिष्यति" (महाभारत

उन्नतिके लिये जो कार्य किये जाते हैं उन्हींके सुप्रबन्धके लिये राजाको लोगोंसे कर उगाहना पड़ता है और राज्यमें निवास करनेवाले सभी लोगोंको किसी न किसी रूपमें राज्यकर थोड़ा बहुत देना ही पड़ता है। इस प्रकार राज्यवासियोंसे जो कर लिया जाता है वही राज्यका कोष होता है जिसे प्रजासत्तात्मक राज्यमें राष्ट्रकोष कहते हैं। इस कोषको वास्तवमें ही जो राजा राष्ट्रका समझता है और अपनेको उसका निरीक्षक और प्रबन्धक-मात्र समझ कार्य करता है वही राजा अपने कर्त्तव्यका यथोचित रूपसे पालन करता है। अवश्य ही उसका तथा कुल राज्यका प्रबन्ध राजाके हाथमें होने और उसे इच्छानुसार शासन करनेका अधिकार होनेसे वह कोषहीका क्या राज्यभरका स्वामी होता है, परन्तु स्वामीकी अपेक्षा अपनेको राज्यवासियोंका सेवक समझकर जो राजा आचरण करता है वास्तवमें वही अपना राज्य सुदृढ़ और राज्यवासियोंको सदा सन्तुष्ट रख सकता है। इसीसे भूतकालमें संसारके प्रायः सभी राज्योंमें कितने ही राजा ऐसे हो गये हैं जिन्होंने राज्यकोषको राष्ट्रकोष समझ अपना जीवन निर्वाह करनेके लिये कोई और काम करना अपना कर्त्तव्य समझ रखा था।

यदि सच पूछा जाय तो राज्यकोष या राष्ट्रकोष राष्ट्रकी थाती है जो राज्यके निवासियोंने अपने कामोंकी सुव्यवस्था करनेके लिये राजाको सौंप रखी है। जो राजा दूसरेकी थाती (धरोहर) को अपनी समझ बैठता है वह भारी भूल ही नहीं,

बल्कि पाप करता है। राज्यके कोषमें करोंद्वारा जो द्रव्य जमा होता है वह राज्यवासियोंके गाढ़े पसीनेकी कमाईका अंश होता है। उसे मनमाने ढंगसे व्यर्थ खर्च करनेसे राजाको निश्चय ही पापभागी होना पड़ेगा। परन्तु जिस राज्यके निवासी कर तो राजाको देते हैं, पर पीछे इस बातकी ओर ध्यान नहीं रखते कि वह कर किस प्रकार खर्च किया जाता है, वे भी अपने कर्त्तव्यसे पतित होते हैं। कारण यह कि जिस प्रकार राजाके राज्यके सभी अधिकार अपने हाथमें रखनेसे उसके अनियंत्रित और स्वेच्छाचारी होनेका पूरा भय होता है इसी प्रकार राज्यवासी यदि प्रचुर परिमाणमें करके रूपमें राजाको धन सौंप देंगे, तो उस धनद्वारा भी राजाको मनमानी घरजानी करनेका पूरा साधन हाथ लग जायेगा। संसारके प्रायः सभी कार्य धनसे ही हुआ करते है, इसलिये बहुत अधिक सम्पत्ति पा स्वेच्छाचारी राजा क्या नहीं कर सकता? यही कारण है कि, जहां राज्यका मुख्य कर्त्तव्य यह बताया गया है कि वह इस प्रकार कर लगावे जिससे कामोंके करनेवाले और उसे दोनोंहीको फल अच्छा रहे वहां प्रजाका भी कर्त्तव्य यह है कि वह करोंसे प्राप्त हुए धनके खर्चमें सम्मति देनेका अपना पूरा अधिकार अपने हाथमें रखे। जैसे जोंक, बछड़ा और भौंरा धीरे धीरे अपनी खुराकको खींचते हैं वैसे ही राजा भी थोड़ा थोड़ा करके राष्ट्रसे वार्षिक कर ग्रहण करे अर्थात् थोड़ा कर लेवे उजाड़ न दे। केवल राज्यद्वारा वसूल

किये हुए करोंके द्रव्यका सदुपयोग होनेहीके लिये नहीं, वरं उचित परिमाणमें कर उगाहनेके लिये भी आवश्यक है कि करोंके उगाहने और उनके व्ययकी व्यवस्थामें करदाताओंको सम्मति देनेका पूरा अधिकार हो और राजाका कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रकी धरोहर उसकी सम्मति विना न खर्च करे। इसीसे प्रजासत्तात्मक सभी राज्योंमें No taxation without Representation का सिद्धान्त काममें लाया जाता है जिसका अर्थ यह है कि, मत नहीं तो कर नहीं। जिन प्रजासत्तात्मक राज्योंमें व्यवस्थाका काम राष्ट्रके प्रतिनिधियोंके हाथमें है अर्थात् जहां राज्यवासियोंके मतसे कानून बनाये जाते हैं वहां कोषपर भी राष्ट्रका पूरा अधिकार होता है। पहले तो वैसे राज्योंमें राजा नाममात्रको होता है और वह राष्ट्रकी इच्छाके विरुद्ध न कुछ करता है और न कर ही सकता है। किन्तु यदि कोई राजा स्वेच्छाचारितासे काम ले जनप्रतिनिधियोंकी राय लिये विना ही राज्यकोषसे धन खर्च करनेकी प्रवृत्ति दिखाता है, तो वहांके करदाता तुरन्त कर देनेसे इनकार कर देते हैं। परन्तु जो देश पराधीन हैं अर्थात् जिनके ऊपर विदेशियोंका शासन होता है वहां अन्य अधिकारोंके साथ ही करदाताओंको खर्च करनेके काममें भी मत देनेका अधिकार नहीं प्राप्त होता है। दिखावटी तौरपर भले ही राज्यके आय-व्ययके लेखेके सम्बन्धमें उनके प्रतिनिधियोंको सम्मति प्रकट करनेका अधिकार प्राप्त हो, पर उस सम्मतिका उस समय कोई मूल्य नहीं होता जब राज्याधिकारी

उसके विपरीत कार्य करना चाहते हैं इसलिये वह व्यर्थ ही है। पराधीनतामें पड़ मनुष्यको अपनी वस्तुओंसे भी अपना स्वत्व खो देना पड़ता है। यह इसीसे सिद्ध है कि राज्यको कुछ कामोंमे खर्च करनेके लिये राज्यवासी धन तो देते हैं, परन्तु किस तरह वह उन कामोंमें किस परिमाणमे खर्च किया जाय, इसके सम्बन्धमे साधिकार मत देनेका उन्हें कुछ भी अधिकार नहीं। जिस पराधीनताके कारण हमारी थैली भी हमारी नहीं रह जाती यदि उसीको सब दुःखोकी जड़ कहा जाय, तो अनुचित ही क्या है। तभी तो मनु महाराज कह गये हैं :—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
यद्यत्परवशं कर्मतत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेतयत्नतः॥

अर्थात् दूसरेके अधीन होना ही सम्पूर्ण दुःख है और स्वाधीनता ही सम्पूर्ण सुख है। यह सुख दुःखका संक्षिप्त लक्षण जाने। जो जो कर्म दूसरेके अधीन है उन सबको यत्नसे छोड़ देवे और जो जो अपने अधीन हैं उनको यत्नसे करे। सुप्रसिद्ध जान स्टुअर्ट मिल भी पराधीनताके सम्बन्धमें कह गये हैं कि "किसी भी जातिका स्वयं अपना शासन करना कुछ अर्थ रखता है और वह एक वास्तविक वस्तु है। परन्तु एक जातिका किसी दूसरी जातिद्वारा शासन न तो होता ही है और न हो ही सकता है। हां, एक जाति दूसरी जातिको

अपने लोगोंके लाभके लिये रख सकती है जैसे लोग अपने लाभके लिये पशुओंको रखते हैं। परन्तु यदि शासनका मुख्य काम शासित जातिका कल्याण है तो दूसरी जातिके लोग उसे स्वयं कदापि नहीं कर सकते।"

राज्यकी ओरसे शासन-व्यवस्था और प्रजाके अन्य हित-कारी कार्य करनेके लिये कर उगाहे जाते हैं इसलिये करका धन भी उन्हीं कामोंमें खर्च होना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य पहले अपनी किरणोंसे जलको खींचता है और फिर उसी जलको भाफके रूपमें बना फिर बरसाकर जगत्का कल्याण करता है इसी प्रकार राजाको भी प्रजासे उगाहे हुए करोंके सम्बन्धमें वर्त्तना चाहिये। परन्तु यह तभी सम्भव है जब प्रजासे उगाहा हुआ धन प्रजाकी धरोहर समझ उसीके हितके लिये खर्च किया जाय। किसी स्वदेशी राजाके लिये ऐसा करना कठिन नहीं, क्योंकि उसे अपने ही देश और राज्यका सदा ध्यान रहेगा। किन्तु जिस राज्यपर किसी दूसरे देशके राजाका आधि-पत्य होता है वहां प्रजासे उगाहा हुआ कुल द्रव्य प्रजाके ही हितके काममें कदापि खर्च नहीं किया जा सकता। कारण यह कि जो राज्य किसी दूसरे राज्यपर अधिकार जमा शासन करता है वह अपने लाभके सामने उस अधीन राज्यके लाभकी गिनती नहीं कर सकता। दूसरे राज्यपर शासन करनेवाले राज्यके अधिकारी चाहे कितने ही उदार शब्दोंमें सदा ही यह क्यों न कहा करें कि हम तो अमुक राज्यको इसीलिये अपने

अधीन रखे हुए हैं कि जिससे वह दिन दिन उन्नति करे और इसके सिवा उसपर आधिपत्य रखनेका हमारा कोई उद्देश्य नहीं है, किन्तु उनकी इस प्रकारकी दंभपूर्ण बातोंपर विश्वास करना मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं है। जिसने दूसरोंकी स्वतन्त्रता ही हरण कर रखी है, उसे नाना भांतिके अनुचित उपाय करनेमें क्या भय या संकोच हो सकता है?

२—चलनी सिक्कोंकी व्यवस्था।

बहुत प्राचीन कालमें राज्यकी ओरसे जो कर उगाहे जाते थे वे उस पैदावारके अंशके ही रूपमें होते थे। भूमिकर या लगान—जो वसूल किया जाता था वह आजकलकी भांति नकद सिक्कोमें नहीं, वल्कि भूमिमें पैदा हुए पदार्थका एक अंश होता था। किन्तु वह समय ऐसा था जव राज्यकी सीमा संकुचित होती थी। इसलिये चीजे लेकर भी राजा राज्यका काम विना किसी प्रकारकी असुविधाके उसी प्रकार चला सकता था जिस प्रकार साधारण जन आवश्यकतानुसार आपसमें चीजोंकी वदलौअल करके चलाते थे। किन्तु यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन कालकी है। उसके पश्चात् जैसे जैसे मनुष्यने उन्नति की वैसे ही वैसे कठिनाइयां दूर करनेकी उसे सूझती गयी। किसी मनुष्यके पास जितने पदार्थ होते हैं जव उतनेहीसे उसकी सारी

आवश्यकताएं नहीं पूरी होतीं तब उन्हें पूरी करनेके लिये उसे दूसरोंके पास जाना होता है जिसके पास वे पदार्थ होते हैं इस तरह प्राचीनकालमें पदार्थोंकी अदलाबदली करके लोग काम चलाते थे। किसान नाज पैदा करता था और जुलाहा कपड़ा बनाता था। जीवनके लिये दोनो ही आवश्यक पदार्थ हैं। इससे कपड़ोंकी आवश्यता पूरी करनेके लिये किसानको जुलाहेके पास जा नाज देना पड़ता और नाजकी आवश्यकता पूरी करनेके लिये जुलाहेको किसानकी शरण लेनी पड़ती थी। इस प्रकार एक ही गांव या पासपड़ोसके लोग अदलाबदली कर अपना काम चलाते थे और उस समयके छोटे छोटे राज्य भी करमें चीजें ही लिया करते थे। पर जैसे जैसे समाजोंकी सभ्यता बढ़ती गयी और उनका व्यवहारक्षेत्र विस्तीर्ण होता गया वैसे ही वैसे इस अदलाबदलीकी कठिनाइयां भी बढ़ती गयीं। जब परस्परकी अदलाबदलीमें कठिनाइयां बढ़ने लगीं तब प्रचुर परिमाणमें करके रूपमें वस्तुएं एकत्र होनेसे राज्यकी कठिनाइयोंका तो ठिकाना ही क्या हो सकता है? चीजोंकी इस बदलौअलमें अनेक प्रकारकी अडचने उपस्थित होने लगीं। जैसे रामके पास कपड़ा है और उसे जूतेकी आवश्यकता है तो उसे 'ऐसे' व्यक्तिकी तलाश करनी होगी जिसके पास जूता हो और साथ ही जिसे कपड़ेकी आवश्यकता हो या कपड़ेके बदले जूता देनेको तैयार हो। इस प्रकार आवश्यकतापूर्त्तिमें जो अनेक कठि-नाइयां उपस्थित होती थीं उनसे बचनेके लिये एक ऐसी चीज

निकालनेकी आवश्यकता समझी गयी जिसके बदले कोई भी चीज प्राप्त की जा सके।

परन्तु फिर भी एकाएक आजकलके प्रचलित सिक्कोंका ही आविष्कार नहीं हो गया। प्रारम्भमें वही पदार्थ चुना गया जिसे लोग भली भांति जानते और लाभदायक समझते थे। इसलिये प्रारम्भमें पशु ही इस अदलाबदलीके कामके लिये उपयुक्त समझे गये। कभी जापानमें चावल, मध्य एशियामें चायके बण्डल और मध्य अफ्रिकामें नमक तथा रंगीन छींट ही अदलाबदलीका साधन समझी जाती थी। किन्तु सोने, चांदी और तांबेकी चाह और कदर लोगोंमें पहलेसे ही थी। इससे

या बुराई सहज ही जानी जा सके, जिसकी जालसाजी करनेमें कठिनाई हो और जिसके टुकड़े कर देनेसे उसके मूल्यमें विशेष अन्तर न हो। सोना और चांदी सर्वत्र ही बहुमूल्य धातु समझी जाती हैं, यह किसे नहीं मालूम है? बहुत अधिक कालतक इन्हें रख छोड़नेसे भी ये बर्बाद नहीं होतीं। साधारण ही परीक्षासे इनका अच्छापन या बुराई सहज ही जानी जा सकती है और इनसे बने सिक्कोंके टुकड़े कर देनेसे वह प्रचलित या चलनी सिक्का भले ही न रहे, पर उस अवस्थामें उसका चांदी या सोनेका मूल्य रहता ही है। लोहा आदि अन्य धातुओंमें उपर्युक्त विशेषताएं न होनेसे वे सिक्कोंके काममें नहीं लायी गयीं।

नोटोंका प्रचार।

आजकल तो संसारके प्रायः सभी देशोंमें धातुके सिक्कोंके साथ ही कागजी नोटोंका भी प्रचार हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि नोटोंसे बड़े कारबारके हिसाब चुकाने और लेनेमें बड़ा सुभीता होता है, किन्तु इनका मूल्य स्थिर और स्थायी नहीं कहा जा सकता। जिस देशकी सरकारके निकाले हुए नोट होते हैं उनका चलन उसी देशमें होता है और तभीतक होता है जबतक उस देशकी सरकारके कानूनसे वे मान्य हैं। पर सरकार यदि वह कानून रद्द कर दे या उस देशमें राज्यक्रान्ति हो जाय और नयी सरकार उन नोटोंको मान्य न ठहरावे तो उन नोटोंका कागजके रद्दी टुकड़ोंसे अधिक मूल्य न होगा। ऐसा प्रायः होता नहीं है, किन्तु नोटोंके मूल्यका विचार करते

समय ऐसी सम्भावनापर विचार करना अनुचित नहीं है। टिकाऊपन तो कागजी नोटोंमें कुछ होता ही नहीं है। असली और जाली नोटोंकी पहचान भी सबके लिये सहज नहीं होती। नोटोंके टुकड़े हो जानेसे फिर उनका कुछ भी मूल्य नहीं रहेगा जबतक वे अधिक वजनमें न हों जिससे कागज बनानेके लिये टुकड़े और चिथड़े संग्रह करनेवाले लोग कुछ पैसे सेरके भावमें उन टुकड़ोंको न खरीद ले जायें। इस प्रकार कागजी नोटोंमें नाममात्रका गुण और वैसे अवगुण ही अवगुण होनेपर भी आज प्रायः सभी देशोंमें इनका प्रचार है। इस कारण प्रजापर अपनी सरकारपर विश्वास ही है। कागजी नोटोंका प्रचार वही सरकार सफलता पूर्वक कर सकती है जो प्रजा-प्रिय हो। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नोटोंका प्रचार बडी रकमोंकी सरलतापूर्वक भुगतानके लिये ही पहले पहल किया गया। यदि उसी सिद्धान्तसे बराबर काम लिया जाय, तो कुछ आपत्ति नहीं। किन्तु किसी कारणवश यदि बहुत कम मूल्यके नोटोंका प्रचार सिक्कोंके स्थानमें चलानेके लिये किया जाय तो वह आपत्तिजनक है। कारण यह कि एक सिक्के-के अनेक हाथोंमें बार बार जानेपर भी उसके बिगड़ने या नष्ट होनेका भय नहीं रहता है, किन्तु एक सिक्केके बराबर मूल्यका यदि एक नोट बार बार लोगोंके हाथ आता जाता रहे तो वह शीघ्र ही खराब हो सकता है। इसके सिवा जितने ही कम मूल्य के नोटो का प्रचार किया जायगा उतना ही राज्य के उस

कार्यके सम्बन्धमें जनसाधारणमें बुरी धारणा पैदा होगी। कागजी नोटों का जो कुछ मूल्य है वह यही कि सरकार उसे मान्य ठहराती है। इसी से सरकार को अपनी मातबरी बनाये रखनेके लिये नोट निकालने से पहले ही प्रवन्ध कर लेना होता है। उसका एक ही उपाय है और वह यह है कि, जितनी रकमके नोट निकाले जाते हैं उतनी ही रकम सोने और चांदीके रूपमें खजानेमें रख ली जाती है जिससे यदि कभी ऐसा भी संयोग आ उपस्थित हो कि, कुल प्रचलित नोट भी एक साथ ही तुड़ानेके लिये उसके सामने आ जायं तो वह उनके वदले चलनी सिक्के दे सके।

राज्यको सिक्के और नोटोंकी प्रथासे जनसाधारणसे भी अधिक लाभ है। कारण यह कि किसी व्यक्ति विशेषकी अपेक्षा उसका कारवार वहुत ही अधिक होता है इसलिये इनके प्रचारसे उसे सुभीता भी उतना ही अधिक होगा। दूसरे सिक्के और नोट निकालनेका काम भी उसीका होता है इसलिये उनका जितना ही अधिक प्रचार होगा उतना ही अधिक उसे सिक्के और नोट वनाने होगे। इनके वनानेमें राज्य अपने करके अंशका पहलेहीसे प्रवन्ध कर लेता है इसलिये इनके अधिकाधिक प्रचारके साथ ही राज्यकी आय वढ़ना भी अवश्यम्भावी है। प्रारम्भसे ही सिक्कोंका निकालना राज्यका ही काम रहा है, इसलिये चाहे वह अपनी ओरसे उन्हे निकाले और चाहे लोग अपना सोना या चांदी दे उसकी टकसालमें

सिक्के ढलवायें सिक्कोंके बनानेसे होनेवाली आय राज्यको ही होगी। राज्योंमें सिक्के दो तरह से ढाले जाते हैं। एक तो स्वयं राज्यकी ओरसे और दूसरे व्यक्तियोंके धातु देनेपर उनके लिये। राज्यके करका अंश दोनों ही प्रकारसे बना हुआ है। भारत में भी पहले यह नियम था कि जो चाहे टकसालमें धातु ले जाकर सिक्के ढलवा ले, किन्तु अब यह नियम नहीं है और अब जितने भी सिक्के ढलते हैं सब राजा की ओर से उसीकी धातुओंसे ढाले जाते हैं।

३—राज्यके अन्यकार्य।

इसलिये इनका संरक्षण करना और इनके प्रतिपालनकी चिन्ता रखना ही राज्यके लिये बस होता है। इसी प्रकार भौतिक स्वार्थोंकी व्यवस्था या आर्थिक व्यवस्थामें वास्तविक अर्थोंमें शासन नहीं होता। राज्यके आय और व्ययकी व्यवस्था, नागरिकोंकी आर्थिक कल्याणरक्षा. व्यापारिक सहायता, सरकारी इमारतो आदिका प्रवन्ध आदि ऐसे विषय हैं जिनमें वास्तविक अर्थोंमें राज्यका शासन नहीं होता है। उदाहरणके लिये देशके वाणिज्यके सम्बन्धमें ही विस्तृत विचार कर देखिये। वाणिज्य व्यापारके सम्बन्धमें राज्यका कोई प्रत्यक्ष शासन नहीं होता है, किन्तु जिन्हें संसारकी वर्त्तमान अवस्थाका ज्ञान है वे यह स्वीकार किये विना नहीं रह सकते कि, व्यापारिक महत्व राज्य सम्बन्धी महत्वसे कुछ भी कम नहीं समझा जाता है। वल्कि सभ्यातिसभ्य कहलेवाले राज्य परस्पर भी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वितामें ही पड़कर महाभयंकर संग्राम खड़ा करते और राज्यकी सारी शक्तियां उद्योग धन्धों और व्यापारकी रक्षामें लगा देते हैं। संसारमें धनका जो महत्व है वह किसीसे छिपा नहीं है। धन विना संसारका कोई काम चलना असम्भव है। साथ ही व्यापार धनका एक मुख्य साधन है। कहा भी गया है कि, 'व्यापारे वसते लक्ष्मी'। ऐसी दशामें राजाका अपने राज्यवासियोंको सम्पन्न बनानेका प्रयत्न सर्वथा उचित ही है। देशके उद्योग धन्धोंकी उन्नति विना व्यापारकी उन्नति हुए असम्भव है। इसीसे यद्यपि उद्योग धन्धे और वाणिज्य-

व्यापार राज्यके प्रत्यक्ष शासनमें नहीं आते तो भी सभ्यताके इस नये युगमें प्रत्येक स्वतन्त्र और उन्नति-शील राज्य इनकी उन्नतिका पूरा ध्यान रखता और अपनी ओरसे निरन्तर ऐसी व्यवस्था करता है जिससे व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति-द्वारा राष्ट्रका धनबल बढ़े और राज्य भी सब प्रकारसे सम्पन्न बने। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यको उद्योग धन्धो और व्यापारकी उन्नतिसे इस प्रकार अप्रत्यक्ष ही नहीं प्रत्यक्ष लाभ भी होता है, क्योंकि उसके शासन प्रबन्धमें फलने फूलनेवाले आयके सभी कामोंसे अपना भाग या कर लेनेका अधिकार होता है। किन्तु औद्योगिक और व्यापारिक उन्नतिकी ओर स्वतन्त्र राज्योंका ध्यान करसे प्राप्त होनेवाले रुपयोंके लिये नहीं, बल्कि राष्ट्रको समृद्ध बनानेके लिये होता है।

व्यापारिक विषयको उठाकर व्यापार नीतिके सम्बन्धमें अत्यन्त संक्षेपमें यहां कुछ लिख देना अप्रासंगिक न होगा। जिस प्रकारकी व्यक्तियोंकी आवश्यकता हुआ करती है उसी प्रकार राज्योंकी आवश्यकताएं भी हुआ करती हैं। कोई राज्य अपने ही यहां पैदा होनेवाले सामानसे अपनी आवश्यकता किसी तरह पूरी करले यह तो बात ही दूसरी है, किन्तु सच पूछिये तो एक राज्यके निवासियोंको अपनी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिये किसी अंशतक दूसरे राज्योंके आश्रित रहना ही पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि कोई ऐसा राज्य है जिसे अपनी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिये

दूसरे राज्योंका मुंह नहीं तकना पड़ता और वह अन्योंसे स्वतन्त्र रहकर भी अपना काम चला सकता है. तो इससे बढ़कर कोई बात ही नहीं है। किन्तु संसारमें विरले राज्य ही ऐसे पाये जायंगे जो सर्वसम्पन्न हैं या हो सकते हैं। और तो और कितने ही राज्य ऐसे देखे जाते हैं जो अपने भीतर बसनेवाले कुल मनुष्योंके लिये वर्षभरके खानेको अन्न और पहननेको वस्त्र भी नहीं पैदा कर सकते। ऐसी दशाओंमें एक राज्यके निवासियोंका दूसरे राज्यके निवासियोंसे व्यापारिक सम्बन्ध रखना एक प्रकारसे अनिवार्य है। राज्यकी ओरसे व्यापारका भी कार्य होना जहां राज्य-कार्य भारको राजाके लिये असह्य बनानेवाला होगा. वहां वह निरन्तर राज्योंके बीच तनिक तनिक भी बातोंके लिये युद्ध छिड़नेका भी कारण हुए बिना नहीं रहेगा। कारण यह कि व्यापारमें एक दूसरेसे प्रतिद्वन्द्विता और उसके परिणाम स्वरूप ईर्ष्या-द्वेषका होना अनिवार्य है। इसीलिये राज्य प्रत्यक्ष व्यापार न कर संरक्षण करना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसी प्रकार स्वयं उद्योग धन्धे खोल अपने कार्यक्षेत्रको बढ़ाना एक प्रकारसे राज्यके लिये असम्भव ही है इसीसे उन्हें अनेक प्रकारसे उत्तेजना देना ही राज्य अपना कर्त्तव्य समझते हैं। किन्तु जहां राज्यका कर्त्तव्य है कि, वह अपने देशके व्यापार और उद्योग धन्धोंकी उन्नतिकी ओर ध्यान रखे वहां उसका यह भी परम कर्त्तव्य है कि, विदेशोंकी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वितामें पड़ देशका व्यापार और

किसी विदेशी राजाका राज्य होगा तो निश्चय ही है कि उसे जितना अपने देशवासियोंकी औद्योगिक और व्यापारिक उन्नतिका ध्यान होगा उतना अपने अधीन राज्यकी उन्नतिका नहीं हो सकता। खासकर ऐसी दशामें जब दोनोमेंसे एककी ही रक्षा करना ही सम्भव हो।

सातवां अध्याय।

१—राज्यका आरम्भ।

राज्यकी प्रारम्भिक उत्पत्तिका रहस्य हम इस पुस्तकके प्रारम्भमें ही प्रकट कर आये हैं, किन्तु वहां जो उत्पत्ति बतायी गयी है वह उन राज्योंकी है जो उस समय बने थे जबका कोई इतिहास नहीं पाया जाता। कारण यह कि इतिहासकी बुद्धि मनुष्योंको उस समय आयी है जब पृथ्वीपर अनेक राज्य बन चुके थे। इतिहास-कालसे पहले जो राज्य बने उनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनुमानके सिवा और कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती यद्यपि जो अनुमान हम पहले अध्यायमें प्रकट कर आये हैं वे मनुष्य-स्वभावको देखते ठीक ही सिद्ध होते हैं। परन्तु उस प्राचीन कालमें जो राज्य बने थे वे प्रायः सबके सब

नष्ट हो चुके हैं और वर्त्तमान कालके अधिकांश राज्य इतिहास-कालके बने हुए हैं। इतिहासकालमें कितने ही राज्य बने और कितनोंहीका अन्त हुआ इसलिये इस कालके राज्योंकी रचना और अन्तके कारणों और अवस्थाओंका पता कल्पनाके आधारपर नहीं, इतिहासके पन्नोंसे चलता है। इतिहास-कालके राज्योंकी तीन श्रेणियां की जा सकती हैं। एक श्रेणीमें तो वे राज्य हैं जो किसी देशकी जनताद्वारा ही बनाये जाते हैं और जिनके बनानेमें पहलेसे ही विद्यमान राज्योंसे कोई वास्ता नहीं। इस श्रेणीके राज्योंकी रचनाको हम मूल रचना कह सकते हैं। दूसरी श्रेणीमें वे राज्य हैं जो जनताद्वारा भीतरसे ही बने हैं, किन्तु उनकी उत्पत्ति पहलेसे ही विद्यमान राज्योंसे हुई है जो या तो पर मिलकर एक हुए हैं या एकके कई हुए हैं। इस प्रकारके राज्योंकी रचनाको हम अन्तर्मूल नाम दे

सर्वमान्य हैं और सब एककी अधीनता स्वीकारकर ऐसी भूमि-पर अधिकार कर लेते हैं जिसे न तो किसीने जोता है और न जिसका कोई स्वामी है। इस तरह उन जातियोंका संगठित होकर राष्ट्र बनना उनके उस भूमिपर आ बसनेसे पहलेका काम नहीं होता है। दूसरी मूल रचना उस राज्यकी है जिसमें बसनेवाले लोग और राज्यकी भूमि होते तो दोनो ही पहलेसे है, किन्तु उनमें राजनीतिक ऐक्यका ज्ञान नहीं पैदा हुआ होता है। ऐसी अवस्थामें उन लोगोंका संगठनही राज्यरचनाका कारण होता है जिनकी भूमि होती है। ऐसा भी प्रायः होता है कि, किसी एक भूभागमें भिन्न भिन्न स्थानोंके निवासी किसी कारणसे-जा बसे और बसनेके कुछ दिनो पश्चात् उन्हें परस्पर संगठित हो राज्यरचनाकी आवश्यकता प्रतीत हो। ऐसे राज्य-की रचना भी इसी श्रेणीमें है। प्रायः ऐसा भी होता है कि, जातियां पहले संगठित हो राज्यरचनाके लिये दूसरी बसी हुई भूमिपर युद्धद्वारा विजय प्राप्तकर राज्यके लिये आवश्यक दूसरी वस्तु अर्थात् भूमि प्राप्त करके राज्य बना लें। किसी देशकी राजनीतिक जातियोंका नया राज्य स्थापित करनेकी इच्छासे बिना बसे या जोते हुए देशमें बस जाना मूल रचनाका कारण होते प्रायः देखा जाता है। यदि उपनिवेश बनानेवालोंका सम्बन्ध ऐसी भूमिमें राज्य स्थापित करनेके पश्चात् भी पुरानी मातृभूमिसे बना रहे तब तो इस प्रकारके राज्यकी गणना 'प्राप्त' राज्यमें हो जायेगी और यदि पुरानी मातृभूमिसे कोई

सम्बन्ध न रह जाये और अपने ही उद्योगों और जिम्मेवारीपर ऐसी भूमिपर नया राज्य स्थापित करें तो निश्चय ही यह राज्यकी मूल रचना होगी।

'अन्यसृष्ट' रचना वह है जिसमें दो या अधिक राज्य पृथक् पृथक् अपनेको अत्यन्त निर्बल पा या राष्ट्रीय ऐक्यके लिये परस्पर मिलकर एक संयुक्त राज्य बना लेते हैं। इस प्रकारके संयुक्त राज्य दो तरहके होते हैं। एक श्रेणीमें तो वह संयुक्त राज्य है जो कई राज्योंके संयोगसे तो बना हुआ है और बाहरसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो सब राज्य मिलकर एक ही राज्य बन गया है, किन्तु वास्तवमें उन सब राज्योंके मिलनेसे एक बड़ा राज्य नहीं बन गया जो उन राज्योंसे भिन्न हो। इस प्रकारके संयुक्त राज्यका प्रबन्ध या तो उन्हींमेंसे कोई राज्य प्रधान बनकर करता है या सभी राज्योंके प्रतिनिधियोंसे मिलकर बनी हुई कोई सभा करती है। दूसरी श्रेणीमें वह संयुक्त राज्य है जिसमें कई राज्य संयुक्त हैं जो पूर्ण रूपसे संगठित हैं, किन्तु साथ ही वे स्वतन्त्ररूपसे भी संगठित बड़े या सार्वजनिक राज्यके रूपमें हैं। ऐसे संयुक्त राज्यका संयोग उनमें किसी एक राज्यके हाथकी बात नहीं और न उनकी प्रतिनिधिसभाके हाथकी है, बल्कि इस बड़े संयुक्त राज्यने अपना संयुक्त या राष्ट्रीय अंग अलग बना लिया है जो सब राज्योंके संयुक्त शरीरका ही होता है। इस प्रकार कई राज्योंके मिलनेसे नये संयुक्त राज्य तो बन जाते हैं किन्तु जिन राज्योंका संयोग व्यक्तिपर निर्भर

करता है वह स्थायी नहीं होता। यदि एक ही व्यक्ति संयोग-वश दो राज्योंका शासक बन जाता है, तो यह स्थायी नहीं, क्योंकि ज्यों ही दोनों राज्योंकी गद्दी दो शासकोंके हाथ पड़ जायगी त्योंही उसका अन्त हो जायगा। परन्तु जो राज्य वास्तवमें संयुक्त हो गया है जिसमें भिन्न भिन्न राज्योंके लिये शासकका व्यक्तित्व ही वही नहीं है, वरं कुल राज्योंका एक संयुक्त राजनीतिक अंग है और उसके कुल उच्च स्वार्थ उसीके हाथमें हैं यद्यपि मिले हुए राज्योंको अपने शासन और व्यवस्थामें निश्चित सीमातक स्वतन्त्रता होती है। पूरा संयुक्त राज्य वह होता है जिसमें भिन्न भिन्न राज्य मिलकर एक हो जाते और राज्योंकी भिन्नता नहीं रह जाती है।

जिस तरह कई राज्योंके मिलनेसे नये संयुक्त राज्य बनते हैं इसी तरह जब भिन्न भिन्न जातियोंके जो अपने प्रदेशोंसे हो एक-दूसरेसे पृथक् होती हैं, किन्तु बिना वास्तवमें एक हुए बाहरसे संयुक्त एक राज्य बन गयी हैं पृथक् होनेसे भी नये राज्योंकी रचना होती है। जब एक राज्यका कोई भाग स्वतन्त्रताकी घोषणाकर अपना दूसरा पृथक् राज्य बना लेता है, तो वह भी 'अन्यसृष्ट' रचना होती है, क्योंकि वह एक दूसरे राज्यसे होती है, मूल रचना नहीं होती। साधारण अवस्थाओंमें तो कुलके विरुद्ध किसी भागका उठ खड़ा होना और पृथक् हो जाना न्यायसंगत नहीं समझा जाता, किन्तु स्वतन्त्रताकी ऐसी अनेक घोषणाएं हो चुकी हैं जिनकी पूरी न्याय्यता स्वी-

कार की जा चुकी है। जर्मन राजनीति विद्याके पण्डित ब्लं-शलीका कहना है कि, "राज्यके किसी भागका कुल राज्यसे पृथक् हो जाना उस समय बिलकुल ही न्यायसंगत है जब इसके स्थायी और महत्वपूर्ण स्वार्थोंकी कुल राज्यरक्षा या पूर्ति नहीं करता है और साथ ही वह भाग अपनी रक्षा आप कर लेने और अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखनेके योग्य है। केवल वास्तविक आवश्यकता और असह्य कष्ट ही पृथक् होनेके काफी कारण हो सकते हैं और नैतिक शक्ति जो विजयी सिद्ध होती और कठिनाइयोंको जीत लेती हैं वही स्वीकार किये जानेका अधिकार प्रदान करती है।"

'प्राप्त' रचनामें उस राज्यकी गणना की जा सकती है जिसे किसी राज्यके निवासियोने किसी भूभागमें बसकर स्थापित किया है। ऐसा नया राज्य उनकी मातृभूमिसे वैसे तो स्वतन्त्र होता है किन्तु रीतिरस्म, कानून, धर्म आदिके बन्धनोंसे यह उससे बंधा होता है। 'प्राप्त' रचनाका दूसरा प्रकार वह है जो कुल देशके राजाके किसी भागको राज्याधिकार देनेसे होती है। यदि कोई राजा किसी दूसरे राज्यपर विजय प्राप्त कर लेता और उस राज्यको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है तब उसकी जगह जो वह दूसरा राज्य स्थापित करता है उसकी वह रचना भी 'प्राप्त' रचनाकी ही श्रेणीमें है।

२—राज्यका अन्त ।

इस नश्वर संसारका इतिहास सिद्ध कर रहा है कि, राज्य नाशरहित नहीं होते। एकसे बढ़कर एक राज्य और राजा इस पृथ्वीपर हो गये, किन्तु कोई राज्य अपनेको नाशरहित नहीं बना सका। अबतक हजारो राज्य बन चुके और नाशको प्राप्त हो चुके हैं। व्यक्तियोंकी मृत्युके कारणोंकी भांति राज्यके अन्तके भी कारण भिन्न भिन्न होते हैं। सभी राज्य एक न एक दिन नष्ट हो जाते हैं इसलिये उनके नाशके जो मुख्य कारण हुआ करते हैं उनका पता लगाना कठिन नहीं है। राष्ट्रीय आचारभ्रष्टता राज्यके अन्त होनेका कारण नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिस प्रकार अचारभ्रष्ट व्यक्ति कभी कभी अधिक अवस्थातक जीते हैं इसी प्रकार आचारभ्रष्ट जनताएं भी बहुत दिनोंतक जीवित रह सकती हैं। बुरा शासन भी राज्यका अन्त करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कितने ही राज्य बुरा शासन करते हुए भी पीढ़ियोंतक बने रहते हैं। राज्यके नाशका सच्चा कारण इन्द्रिययुक्त जीवनके महान् नियमसे निकलता हुआ है। जिस प्रकार इंद्रियधारी मनुष्य जन्मता और समय पाकर नाशको प्राप्त होता है इसी प्रकार मनुष्योंके बने हुए राष्ट्रोंकी भी अवस्था है। राष्ट्रका जीवन प्रारम्भ होता और क्रमशः अपनी विशेषताओंको प्रकट करता हुआ जिस उद्देश्यसे वह उत्पन्न हुआ होता है उसे पूरा करके

अन्तमें नाशको प्राप्त हो जाता है। उन्नतिशील मानवजाति किसी विशेष प्रकारके राज्यसे पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट न हो सबको हड़प जाती है। यदि कभी कुल मानवजातिके विस्तृत आधार-पर कुल संसारका साम्राज्य या सार्वभौम राज्य बन जाये, तो हम आशा कर सकते हैं कि वह स्वयं मानवजातिके बने रहनेतक नाशको न प्राप्त होगा।

राज्यके अन्त होनेमें जो विशेष अवस्थाएं होती हैं वे अनेक ऐतिहासिक स्वभावके लोगोंके अनुसार होती हैं। यह तो प्रायः होता है कि जब नये राज्योंकी रचना होती है तब पुराने नष्ट हो जाते हैं। बहुत पुराने राज्योंके नाशके समय ही नये-

जब दूसरे देशपर विजय प्राप्तकर उसके निवासियोंको अधीन बना लेता है तब उस देशकी राजनीतिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। परन्तु विजयद्वारा नये राज्यकी स्थापना कम और पुराने राज्यका नाश ही अधिक हुआ करता है। कारण यह कि विजयका परिणाम प्रायः यह हुआ करता है कि विजयी राज्य किसी राज्यको हरा उसे अपनेमें मिला अपना विस्तार अधिक किया करता है। प्रबल जातिकी अधीनता जो निर्बल जातिवाले स्वीकार करते हैं वह देखनेमें तो ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने स्वेच्छासे स्वीकार किया है, किन्तु साधारणतः दबाव और आवश्यकताके कारण ही उन्हें वैसा करना पड़ता है। जब कोई राज्य दूसरे राज्यमें पूर्णरूपसे मिल जाता है तब भी यद्यपि ऐसा होनेसे वह एक और बड़े राज्यके बनानेका कारण होता है, किन्तु वह अपना पृथक् अस्तित्व खो देता है। इसलिये यह भी राज्यके अन्तका एक कारण होता है। इसका ठीक उलटा काम एक साम्राज्यका कई राज्योंमें विभक्त होना या एक राज्यका कई विदेशी राज्योंमें बंट जाना होना है और राज्यका अन्त होनेका यह पांचवां हेतु होता है। जिस प्रकार राज्याधिकार देनेसे नये राज्य बनते हैं इसी प्रकार उनके वापस करने या त्याग देनेसे पहलेके स्वतन्त्र राज्य धीरे धीरे अपना राजनीतिक अस्तित्व खो सकते हैं।

आठवां अध्याय ।

)o:(

राज्योंके प्रकार ।

राज्योंके सम्बन्धकी बहुत ही मोटी मोटी बातें पहलेके अध्यायोंमें लिखी जा चुकी है। इस अध्यायमें यह दिखाया जायगा कि, राज्य होते कितने प्रकारके है। परन्तु यदि वर्त्तमान कालमें जितने प्रकारके राज्य उन सबकी रचना तथा विशेषताओ आदिहीका वर्णन कर दिया जाय और यह न बताया जाय कि, राज्यके भिन्न-भिन्न प्रकार होनेका मूल कारण या उसके सम्बन्धका सिद्धान्त क्या है, तो उससे वर्त्तमान कालमें सम्भव है कि कुछ जानकारी प्राप्त हो जाय, किन्तु इस पुस्तकका मुख्य उद्देश्य उससे कदापि नहीं सिद्ध हो सकता अर्थात् राज्यसम्बन्धी-सिद्धान्तका ज्ञान अधूरा ही रह जायगा। कारण यह कि, संसारमें इस समय जितने प्रकारके राज्य है उतने ही प्रकारके सदा नहीं बने रहेंगे, यह उसी प्रकार निश्चित बात है जिस प्रकार यह निश्चित है कि प्रजासत्ताके इस युगमें प्रजापीड़क या अल्पप्रजा-सत्तात्मक राज्य अत्यन्त प्रजासत्तात्मक राज्योंमें परिणित हो जायेंगे। इसीसे जगतके भिन्न-भिन्न देशोंको ले उनमें प्रचलित शासन ढंगकी व्याख्या न कर हम उस मूल तत्त्वकी ओर आना चाहते हैं जिसके कारण राज्यके अनेक रूप या प्रकार दिखाई पडते है।

राज्यरूपी शरीरके प्रधान अंग दो ही हैं अर्थात् राजा और प्रजा या अधिक व्यापक रूपमें यो कहिये कि, शासक और शासित। इन्हीं अंगोकी अवस्थापर ही राज्यके भिन्न भिन्न प्रकार होते हैं। दो सहस्र वर्षसे अधिक हुए जब सुप्रसिद्ध तत्वज्ञानी अरस्तूने राज्यके प्रकारका भेद निश्चित किया था जो वर्त्तमानकालमें भी मान्य है। अरस्तूका कहना था कि, प्रत्येक राज्यकी एक मुख्य इन्द्रिय होती है जिसमें शक्तिका जमाव होता है और अन्य इन्द्रियां जिसके अधीन होती हैं। इस इन्द्रियका स्वरूप राज्यपर एक अद्भुत ठप्पा जमाता है इसलिये स्वाभाविक है कि वह राज्योंके स्वरूपका आधार माना जाय। जिन राज्योंका ध्यान जनताके हितकी ओर होता है उन्हें अरस्तूने 'साधारण' और जिनका ध्यान केवल शासकोंके हितकी ओर होता है उन्हें साधारणका विपरीत या 'विलोम' राज्य कहा है। इस तरह अरस्तूने राज्यके तीन साधारण प्रकार बताये हैं और साथ ही तीन विलोम। उनका कहना है कि, "प्रधान अधिकार या तो एक व्यक्तिके हाथ होगा या कुछ व्यक्तियों अथवा अल्पसंख्यक लोगोंके हाथ या बहुतसे व्यक्तियों अथवा बहुसंख्यक लोगोंके हाथ होगा।" इससे उन्होंने राज्यके साधारण तीन प्रकार निश्चित किये हैं:—

धिकार अपने हाथमेंकर स्वेच्छाचारितासे शासन करने लगते हैं वह चाहे बहुसंख्यक लोगोंहीका शासन हो किन्तु *Mob-Rule* मावरूल या 'उत्तेजितजनता का शासन कहा जायगा और वह 'प्रजासत्तात्मक' का विलोम राज्य होगा।

अरस्तूके निश्चित किये हुए राज्यके प्रकार एक अंशमें अपूर्ण हैं। कारण यह कि, ऐसे भी राज्योंका इतिहाससे पता चलता है जो उक्त तीन प्रकारके साधारण राज्योंमेंसे किसीमें नहीं आते। उक्त प्रकारके राज्योंमें तो प्रधान अधिकार मनुष्यो-का होता है चाहे वह एक आदमी हो या सर्वोत्तम हो या जनसाधारण। किन्तु ऐसे भी राज्य हुए हैं जिनमें राज्यपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं माना गया है और परमात्मा या कोई देवता ही राज्यका प्रधान अधिकारी समझा गया है। और उसके स्थानपर जो लोग शासन करते थे वे राज्यके अधि-कारी नहीं, वरं अदृश्य शासकके प्रतिनिधि समझे जाते थे जो मानव प्रकृतिकी निर्बलताओंसे रहित था। ऐसे राज्योंमें स्वभावतः पुरोहित श्रेणीके लोग शासक हुआ करते थे। ऐसा राज्य 'साधारण राज्योंके प्रकारमें 'ईश्वरप्रभुत्वात्मक' और विलोम' श्रेणीमें 'प्रतिमासेवी' कहा जा सकता है। जब ऐसा शासन प्रजाके कल्याणके विचारसे किया जाय तब वह 'ईश्वर-प्रभुत्वात्मक' और विपरीत अवस्थामें 'प्रतिमासेवी' कहा जायगा। सिद्धान्तके आधारपर राज्यके ये ही मुख्य चार प्रकार हैं। प्राचीन कालमें भी अरस्तूके निश्चित किये हुए

नाम भी उक्त प्रकारके राज्योंसे भिन्न हैं। इस प्रकारके राज्य यद्यपि मिश्रित हैं, किन्तु प्रधान शासनाधिकार या तो एक राजाहीके हाथ है या शिष्टजन या उच्चश्रेणीहीके हाथ अथवा जनसाधारणके हाथमें है। इस तरहके राज्योंके प्रत्यक्ष प्रकारभेद होनेपर भी वस्तुतः वे उक्त राज्योंके प्रकारमें ही किसीके भीतर सिद्ध किये जा सकते हैं।

(क) राजतन्त्र।

राजतन्त्रराज्यमें शासक और शासित या राजा और उसकी प्रजाका भेद स्पष्ट होता है। शासनका पूरा अधिकार एक ही व्यक्तिको होता है जो केवल शासक ही होता है और उसी समय एक प्रजाजन नहीं होता। वह बिलकुल ही राज्यका होता है और राष्ट्रके ऐक्यका प्रकट करनेवाला पुरुष होता है। हम प्रसंगवश इस पुस्तकके अनेक स्थलोंपर प्रकट कर चुके हैं। कि, एक व्यक्तिके शासनमें लाभकी अपेक्षा हानि और गुणकी अपेक्षा अवगुण ही बहुत अधिक होते हैं मनुष्यका कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि, अधिकार प्राप्त होनेपर वह निरंकुश हो जाता है। किसी व्यक्ति विशेषकी इच्छाका इतना अधिक प्राधान्य हो और शासन इतनी अधिक सरलतासे हो जितनी

सरलतासे एकराजतन्त्र-प्रणालीमें होता है—ऐसी अन्य कोई शासनपद्धति नहीं है। निरंकुश राजाको तो अपने हित, अपने बड़प्पन और अपनी शानका ही मुख्य ध्यान रहता है। एक ही व्यक्तिके हाथमें जब राज्यके शासनका कुल अधिकार होता है और उसे स्वेच्छानुसार कार्य करनेमें कोई रुकावट नहीं रह जाती, तब निश्चय है कि, वह राजा स्वेच्छाचारी हो जायेगा। स्वेच्छाचारितासे बुरी वस्तु संसारमें और कौन सी है? इसमें सन्देह नहीं कि, यदि राजा अच्छा हो और धर्मानुसार राज्य करनेवाला हो, तो बहुत विस्तृत राज्योंके लिये एक राजतन्त्र शासन बहुत ही सुभीतेका होता है। किन्तु स्वार्थ मनुष्यके स्वभावके साथ लगा हुआ होनेसे आजके एक अच्छे राजाके सम्बन्धमें भी यह आशा नहीं की जासकती है कि वह सदैव इसी तरह अच्छा बना रहेगा, फिर उसके उत्तराधिकारियोंकी उत्तमताके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या। एक राजतन्त्र शासनमें जनताकी इच्छा, राजाकी इच्छा, राज्यकी सार्वजनिक शक्ति और शासनकी विशेष शक्ति सभी एक ही प्रेरक शक्तिके अधीन होती है। कलके सब पुर्जे एक ही राजाके हाथमें होते और एक ही उद्देश्यसे उन्हे कार्य करना पड़ता है। सारा संगठन इस प्रकारका है कि, जिस प्रकार मदारी एक स्थानपर बैठा हुआ रस्सीमें बंधे हुए बन्दरको नाच नचाया करता है उसी प्रकार शासनकी बागडोर पकड़ राजा सारी व्यवस्था किया करता है। अल्प प्रयाससे ही एक राजतन्त्र शासनमें जितना

अधिक काम होता है उतने अन्य किसी प्रकारकी शासन-पद्धतिमें नहीं हो सकता। राजा सभी वस्तुओंको गतिशील बनाकर भी स्वयं गतिशून्य प्रतीत होता है। एक ही उद्देश्यसे सारा काम होता है, किन्तु वह उद्देश्य सर्वसाधारणके हितका नहीं, किन्तु राजाके पक्षका होता है। राजा परम स्वतन्त्र होने-की इच्छा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जनताके प्रीति-भाजन बननेसे राजा परम स्वतन्त्र हो सुख पूर्व्वक राज्य करनेमें समर्थ हो सकता है, किन्तु जिसके हाथमें शासनकी बागडोर है और जिसे अधिकार प्राप्त है कि, वह अन्याय पूर्वक भी अपने राज्यके किसी व्यक्तिका बातकी बातमें सर्वनाश कर डाले और वह व्यक्ति उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, ऐसे शक्तिसम्पन्न राजा-को जनताके विचारोंकी भला क्या परवाह हो सकती है? फिर यह तो भय होता ही नहीं कि यदि हम कोई बुरा काम करेंगे तो राजा न रह सकेंगे इसलिए राजाओंको प्रायः मनमानी घरजानी करनेमें कुछ भी भय नहीं मालूम होता।

यह मानी हुई बात है कि, यदि राज्यके निवासी सम्पन्न और शक्तिशाली हो, तो वे राजाकी प्रजा होनेसे राजाहीकी शक्तिके कारण होंगे, किन्तु यह बात राजाकी समझमें ठीक ठीक नहीं बैठ सकती। उसका मुख्य स्वार्थ तो इसीमें जान पड़ता है कि, राज्यमें बसनेवाले लोग इतने शक्तिहीन हों कि वे कभी हमारा सामना न कर सकें। यदि राजा इच्छा करे तो वह भी समझ सकता है कि यदि राज्यवासी शक्तिशाली रहेंगे, तो समय

पड़नेपर पासपड़ोसके अन्य राजाओंसे सामना करनेमें वे बड़े लाभदायक सिद्ध होंगे। किन्तु यह तो तब होगा न जब उनसे कभी सामना करनेका प्रसंग उपस्थित होगा। राजाको उससे पहले सबसे बड़ी चिन्ता इसी बातकी होगी कि, ऐसा न हो कि लोग शक्तिशाली बन हमारी मनमानी घरजानीका विरोध करने लगें। इसके सिवा एक राजतन्त्र शासनमें सबसे बड़ी बुरी बात यह होती है कि अपूज्योंकी पूजा और पूज्योंका तिरस्कार होता है। इसके कारणकी तलाश करनेके लिये विशेष परिश्रम न करना होगा। चापलूसी करने और जी हुजूर कहनेवाले लोग अमीर उमरावो के पीछे सदा लगे ही रहते हैं। ठकुरसुहाती कहनेवाले लोग ही प्रायः राजाओंके दरबारी हुआ करते हैं। यदि संयोगवश राजदरबारमें स्वतन्त्र प्रकृतिका खरा और स्पष्टवादी आदमी भी कोई पहुंच गया तो वहां उसकी कोई गिनती ही नहीं होती। इसलिये उच्च पदोंपर उन्हीं ठकुरसुहाती कहनेवालोंमेंसे लोग पहुंचते हैं जो क्षुद्र बुद्धि और मायावी होते हैं जिससे नियुक्त होते ही लोगोंको उनकी अयोग्यताका पता चल जाया करता है।

परन्तु एक राजतन्त्रकी सबसे बड़ी बुराई यह होती है कि. राजाका पुत्र या निश्चित नियमानुसार राजघरानेका कोई दूसरा व्यक्ति ही राजा हुआ करता है। इसका अर्थ क्या है? यही न कि यदि राजा का बड़ा पुत्र ही राज्यका उत्तराधिकारी है, तो उसे ही राजाके मरनेपर राज्याधिकार प्राप्त

होगा। इस व्यवस्थाका परिणाम क्या होता है? यही कि यदि राज्यका उत्तराधिकारी मूर्ख और शासन करनेके अयोग्य हो तो भी वह राजाकी मृत्युके पश्चात् अधिकारवश राजा बन ही बैठेगा चाहे उसमें शासन जैसे कठिन कार्यको चलानेकी तनिक भी योग्यता न हो। परिणाम स्वरूप वह राज्य वासियोंके महान् दुःखका कारण होगा। इससे एक दोष एकराजतन्त्रमें यह भी पैदा हो जाता है कि, राजाकी मृत्युके पश्चात् निश्चित नियमोंके अनुसार राजघरानेका कोई व्यक्ति राजा बनही जाता है और वह एक बड़े राज्यका अधिपति हो जाता है। यदि वह इतने बड़े राज्यका शासन प्रबन्ध करनेके योग्य हुआ तब तो अच्छी बात है। परन्तु यदि राज्य इतना बड़ा हुआ कि उसकी योग्यता उतने बड़े राज्यको संभालने योग्य नहीं है, तब शासन व्यवस्थाकी दुर्गति होगी और उसके कारण प्रजाको कष्ट पहुंचना स्वाभाविक ही है। और यदि अयोग्य राजा कहीं दूसरेके देशोंको जीतनेकी प्रबल आकांक्षा वाला हुआ तो राज्यका शासन और भी अधिक बुरा होगा, क्योंकि वह सदा अपने मनसूबे बनाने और उन्हे पूरा करनेके उपाय सोचनेहीमें पागल बना रहेगा और जनताके हितोंको वह भूल जायगा। अवश्य ही राजनीतिमें राजाका सन्तोषी होना ठीक नहीं बताया गया है और यहांतक कहा गया है कि यदि राजा अपने प्राप्त राज्यसे ही सन्तोषकर बैठा रहे और उसे बढ़ानेकी चिन्ता न करे तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा।

परन्तु साथही यह भी निश्चित है और इतिहासमें इस बातकी पुष्टिमें अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं कि, सम्भालनेकी योग्यतासे बड़ा राज्य होनेपर वह नष्ट भी हो जाता है। राज्यका विस्तार तो उतना ही ठीक है जितनेके सम्भाल करनेकी राजामें शक्ति हो। एक वीर राजाके लिये राज्यपर राज्य जीतते जाना सहज है. किन्तु बहुत विस्तृत राज्यका संभाल बड़ा कठिन और कभी कभी असम्भव हो जाता है। [illegible] यह कि राज्य चाहे जितना ही छोटा क्यों न हो, किन्तु राजा तो उसके लिए भी [illegible] होता है। इतनेपर भी जो राजा बड़े भारी राज्यका शासन करता है वह [illegible] ही करता है। वह तो

एक बड़ी बुरी बला है वह इसलिये नहीं कि सभी राजा बुरे और प्रजापीड़क ही होते हैं, वल्कि इसलिये कि, इस प्रकारकी शासनप्रणालीका सदा ही स्वेच्छाचारी और प्रजापीड़क शासन-में परिणत होनेका पूरा भय रहता है, वल्कि, वैसा न होना ही एक आश्चर्य्यकी वात है।

एक राजतन्त्रके भेद।

एक राजतन्त्र प्रणाली अत्यन्त प्राचीन कालसे आजतक अनेक देशोंमें प्रचलित है। भिन्न भिन्न देशोंकी इस प्रकारकी शासन प्रणालीके स्वरूप और विचारोंमें इतना भेद है कि, उनकी श्रेणियां निश्चित करना कठिन है। परन्तु उनकी प्रधान श्रेणियां इस प्रकार हैं:—

१—अनियन्त्रित।

(Despotism) अनियन्त्रित या स्वेच्छाचारी या प्रजापीड़क शासन एकराजतन्त्रका सवसे बुरा प्रकार है। इस प्रकारके शासनमें कुल शासनाधिकार एकमात्र राजाके हाथमें होते हैं जिससे उसके विरुद्ध या उससे भिन्न और किसीको कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता है। हो सकता है कि वह धार्मिक या नैतिक कर्त्तव्योंके प्रवन्ध स्वयं स्वीकार करे या अपनेको परमात्माके सामने जिम्मेवार माने, किन्तु उसके अधिकारोंमें

प्रजाके अधिकारोंके कारण किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं होती और सच पूछिये तो इस प्रकारके शासनमें प्रजाके राज्य-सम्बन्धी कोई अधिकार ही नहीं रहते और वह स्वेच्छाचारी राजाकी कृपाके आश्रित तथा केवल दास (गुलाम) होती है। ऐसा राजा अपनी स्वेच्छाचारिताको न्यायोचित सिद्ध करनेके लिये अवश्य ही अपनेको सर्वशक्तिमान परमात्माका प्रतिनिधि बतायेगा और कहेगा कि राजाकी शक्ति अपरिमित है, क्योंकि वह ईश्वरसे प्राप्त है। जब राजा अपनेको ईश्वरका प्रतिनिधि बता अनियन्त्रित शासन करने लगे तब उसके अत्याचारों और अन्यायोंका कहीं अन्त ही नहीं हो सकता और प्रजाको भी उसके विरुद्ध एक अंगुली उठानेका भी साहस नहीं हो सकता। इस प्रकारकी शासनपद्धति असभ्योचित मानी गयी है।

वालोने बहुत पहलेसे राजाके अधिकारोसे भिन्न देशवासियों-के भी अधिकार मान रखे हैं। प्रजाजन अपनेको गुलाम न समझ स्वतन्त्र व्यक्ति समझते हैं और जब राजाको अपने अधिकारोंमें अनियंत्रित होते देखते हैं तब समझते हैं कि घोर अन्याय हो रहा है। उन्हे ज्योही अवसर मिलता है वे त्योही शासकोको प्रजाके अधिकारोकी प्रतिष्ठा करनेके लिये लाचार करते हैं। इस तरह राज्य एकराजतन्त्र सदा कुछ शर्तोंपर निर्भर करता और सर्वसाधारणके अधिकारोकी रक्षाके लिये न्यायालयके संगठनद्वारा वह सीमाबद्ध होता है। इससे राजाकी शक्ति घटती नहीं, बल्कि एक प्रकारसे बढ़ जाती है. क्योंकि, गुलामीमें पड़ी मूर्ख जनतापर शासन करनेकी अपेक्षा स्वतन्त्र जनताकी राजनीतिक शक्तियोका अनुशासन कहीं उत्तम कार्य है। जितना ही अधिक राज्योके भीतर निवास करनेवाले व्यक्तियोको स्वतन्त्रतापूर्वक उन्नति करनेमें सुभीता हो और कुल जनसाधारणका ऐक्य और उत्साह प्राप्त हो सके उतनाही अधिक राज्यका संगठन पूर्ण होता है। यह सभ्य एक-राजतंत्र शासनहीमें सम्भव है, अनियंत्रित एक राजतंत्रमें नहीं। भिन्न भिन्न कालमें इस बातके बड़े प्रयत्न किये गये कि किस अंशतक राजाके अधिकार सीमाबद्ध होने चाहिये।

———*———

३—कुलपति राज्य शासन।

इस ढङ्गके शासनमें राजा कुलका प्रधान समझा जाता और जातिका वृद्ध पुरुष माना जाता है।

४—सामन्त राज्य।

इस ढङ्गके शासनमे राजाको कुछ भूमिपर शासनका पूरा अधिकार बड़े राज्यकी सेवाओंके वदले प्राप्त होता है। इस तरह स्पष्ट है कि यह तथा इससे पहलेकी राज्यप्रणाली पूर्ण रूपसे एक राजतन्त्रके भीतर नहीं आती। हां, ये दोनो प्रणालियां राजतन्त्रके अपरिपक्व स्वरूप भले ही कही जा सकती है।

५—एकपक्षीय राजतन्त्र।

जव राजनीतिक जागृति एक ही अंशमे होती है और राज्य-कार्य एक ही कार्यको लक्ष्यमे रखकर किया जाता है तव वह एक-पक्षीय राजतन्त्र होता है। सैनिक प्रदेशोंमे सैनिक कार्यका मुख्य ध्यान रखा जाता है और न्यायप्रधान राज्योंमें जज (न्यायाधीश) ही शासक समझा जाता है। सैनिकता प्रधान राज्यका शासन वहुत अधिक अनियंत्रित और न्यायप्रधान राज्यका वहुत अधिक नियंत्रित और शान्तिपूर्ण होता है।

६—अनियन्त्रित।

जव राजा अपनी अत्यन्त राजनीतिक जागृतिके कारण प्रधान अधिकार अपने ही हाथोंमें कर लेता और जनताको कोई राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त होता तव यह अनियंत्रित राज्य

शासन कहाता है। प्रजापीड़क और अनियंत्रित राज्यमें केवल यही अन्तर होता है कि, अनियंत्रित राजा भी यद्यपि प्रजापीड़क या स्वेच्छाचारी राजाकी भांति राज्यका पूरा अधिकार रखता है, किन्तु वह न्याय सम्बन्धी संगठनको स्वीकार करता और साधारणतः न्यायालयकी बातोंकी प्रतिष्ठा करता है।

७—नियन्त्रित।

एक राजतंत्रके सब प्रकारोंमें नियंत्रित शासनप्रणाली सबसे उत्तम है। इसमें जहां राजाको प्रधान शक्तियां प्राप्त होती हैं वहां राष्ट्रके सभी व्यक्तियों और जातियोंकी स्वतंत्रताका भी सम्मान होता है। जिस राज्यकी निश्चित शासन प्रणाली होती है और जनप्रतिनिधियोंको उसके अनुसार शासनव्यवस्था करनेका अधिकार प्राप्त होता है उसे कंस्टीट्यूशनल (constitutional monarchy) या व्यवस्थानुसार राज्यशासन कहते हैं। इस प्रकारके शासनमें अन्य सभी प्रकारके एक राजतंत्रकी विशेषताएं पायी जाती हैं। इसमें जहां शिष्टजनोंको अपने अधिकारोंका स्वतंत्रतापूर्वक उपभोग करनेका अधिकार प्राप्त होता है वहां जनताकी जनसत्तात्मक प्रवृत्तियोंके ऊपर किसी प्रकारकी रुकावट नहीं खड़ी की जाती है। इसमें कानूनकी पूरी प्रतिष्ठा होती है। किन्तु इतनी भिन्न प्रवृत्तियोंके होते हुए भी राजा उन सबके बीच उचित सम्बन्ध बनाये रखता है।

एक राजतंत्रके जो प्रकार ऊपर बताये गये हैं, उनमेंसे प्रजापीड़क या स्वेच्छाचारी और अनियंत्रित राजाकी शासन प्रणाली

सबसे निकृष्ट होती है। या हम यों भी कह सकते हैं कि, वास्तवमें उसकी कोई निश्चित शासनप्रणाली होती ही नहीं है। वह जैसा चाहता है वैसा अपनी प्रजाके साथ वर्त्ताव करता है। इसी प्रकार सामन्तोंकी शासन प्रणालीकी भी अवस्था है। राजा तो समझता है कि राज्याधिकार तो उसे परमात्माने दे रक्खा है और सामन्त देखता है कि, राजाने उसे अधिकार सौंपा है। इस तरह सामन्तोंकी शासन प्रणाली एक प्रकारसे क्षुद्र राजाओंके गुटकी भांति है जिन्हें अपनी प्रजापर अनियंत्रित और पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। अवस्थानुसार शासन या कंस्टीच्यूशनल मनार्की राजतन्त्रके प्रकारोंमें सबसे बढ़िया समझी जाती है। सभी प्रकारके व्यवस्थानुसार शासनमें ये विशेषताएं पायी जाती हैं—राजाका गौरव और अधिकार शासनपद्धति या व्यवस्थापर निर्भर करता है। राजा व्यवस्थाके वाहर या ऊपर नहीं, वलिक व्यवस्थाके भीतर होता है। व्यवस्थाके अनुसार जो कानूनी संस्थाएं होती हैं उनकी पूरी प्रतिष्ठा करनेहीके कारण इस प्रकारकी राज्यप्रणालीका यह नाम है। इस प्रकारको शासन पद्धतिके भीतर राजाको न केवल व्यवस्थाहीका अक्षरशः पालन करना होता है वलिक राज्यके कानूनोंसे भी वह बँधा होता है। वह केवल व्यवस्था और कानूनोंकी आज्ञाओंका पालन करा सकता है। व्यवस्थाका अधिकार जन प्रतिनिधियोंकी सभाओं सहित राजाको ही प्राप्त होता है। कानून वनाने और जारी करनेमें उसे उन-

की राय और मंजूरी लेनेकी आवश्यकता होती है। आर्थिक प्रबन्ध और कर स्वीकार करना भी प्रतिनिधिक संस्थाओंकी मर्जी और सहयोगपर अवलम्बित होता है। शासन और शासनप्रबन्धमें मंत्रियोंका सहयोग आवश्यक है। इसी प्रकार मंत्रीपर अन्य अफ़सर भी अपने नामसे शासन प्रबन्ध नहीं कर सकते। राजाके विशेष हुक्म कानूनन किसीके लिये तबतक अवश्यमान्य नहीं होते जबतक उनपर मन्त्रीका हस्ताक्षर न हो। समाजों और व्यक्तियोंको वैयक्तिक और प्राइवेट ही नहीं बल्कि सार्वजनिक अधिकार भी प्राप्त होते है और ये राजाके अधिकारोंकी तरह अलंघ्य होते हैं। न्याय सम्बन्धी कामोंसे मन्त्रियोको दूर रखना गवर्नमेंटपर एक आवश्यक नियन्त्रण और प्रजाके अधिकारोंकी महत्वपूर्ण गारण्टी है।

व्यवस्थानुसार राज्यशासनमें राजा और प्रजाके अधिकारोंके सम्बन्धमें कई प्रकारके भ्रम पैदा हो सकते हैं। हम यह तो मानते ही नहीं कि इस प्रकारका शासन ही सबसे उत्तम या मनुष्यके लिये इष्ट है। किन्तु जबतक राजाकी सत्ताकी जगह जनताकी सत्ता न स्थापित हो, तबतक यह समझना भ्रमात्मक है कि व्यवस्थानुसार शासनमे राजाको जनताकी इच्छाओंहीके अनुसार काम करनेका अधिकार है और अधिक नहीं। कारण यह कि, यह विचार तो जनताको राजाके विरुद्ध खड़ा करता है और राजाको जनताकी उस इच्छाका केवल दास बना देता

है जो उससे बाहर है और जिसके बननेमें राजाका कोई भाग नहीं है। सच पूछिये तो यह एकदमसे राजतन्त्रका ही अन्त कर देता है। दूसरा भ्रम यह है कि, राजाको शासन करनेका अधिकार तो है, किन्तु इस अधिकारको वह नहीं उसके मन्त्री काममें ला सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि, यदि यही राजनीतिक सिद्धान्त मान लिया जाय तो इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि राजतंत्र जाता रहेगा और उसके स्थानमें प्रजातंत्रकी जड़ पड़ जायगी। कारण यह कि जिस पुरुषको अधिकार मिला है वह यदि स्थायी रूपसे उसके व्यवहारसे वंचित किया जाय तो वह अधिकारका वास्तविक तत्त्व खो देता है और निश्चय है कि थोड़े ही दिनोंमें वह थोथी पदवी भी खो बैठेगा जो उस आदमीके पास चली जायगी जो कि उस अधिकारको काममें लाता है। जब एकबार शासनका वास्तविक अधिकार राजाके हाथसे निकल मन्त्रियोंके हाथ चला जाता है, तब मन्त्रियोंका अधिकार प्रजासत्तात्मक हो जाता और राजतन्त्र केवल थोथी कल्पना रह जाता है। व्यवस्था-शास्त्र राजतन्त्रका लक्ष्य कुछ ऐसी व्यवस्थाका होना है जिसमें राजा न केवल बहुत ही कम हानि कर सके, बल्कि जितना अधिक सम्भव हो उतना अधिक भला कर सके। इसी अर्थमें उसका अधिकार नियन्त्रित है। यहां तो वह [illegible] [illegible] मात्र ही है। यदि राजाने अपने [illegible] [illegible] [illegible]

हो, तो उस राजाके प्रति भक्ति और प्रेम कैसे हो सकता है। राजाको जहां शासनके नैयमिक अधिकार प्राप्त हैं वहां राज्यकी नीतिके अनुसार काम होनेका प्रबन्ध करनेका भी अधिकार है। दूसरा अधिकार राजाको देनेसे इनकार करना या यों कहिये कि वास्तविकताके विना उसे कोरे अधिकार देना राजकीय अधिकार नष्ट करना है। इसी प्रकार जो व्यवस्था-पालक राज्यके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि, राजा जनताके बहुमत-की इच्छा और रायके अनुसार शासन करनेको बाध्य है, यह भी भ्रमात्मक है। कारण यह कि ऐसा होनेसे राजतन्त्रकी प्रजासत्तात्मक विचारोंके सामने हत्या हो जायेगी। बहुमतका शासन प्रजासत्तात्मक शासन होता है। राजतन्त्रकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि, राजा अल्प पक्षके अधिकारों और स्वतंत्रताओंकी बहुपक्षकी छीनाझपटीसे रक्षा करनेको बाध्य होता है। यदि राजा बहुपक्षका प्रतिनिधि और नौकर-मात्र रह जाय और वास्तविक शासन बहुपक्षका हो तो राजतंत्रका ही अन्त हो जायेगा।

२—शिष्टजन-सत्तात्मक राज्य।

इस प्रकारके राज्यका आदर्श सिद्धान्त राष्ट्रके विशिष्ट जनो-का निम्न श्रेणीके जनसाधारणपर शासन है। विशिष्ट जन कौन समझे जाते हैं, यह गुण या स्वभावकी विशिष्टतापर निर्भर करता है। परन्तु जनताके स्वरूप और अवस्थाके अनुसार गुण भी भिन्न भिन्न प्रकारके चुने जाते हैं। यदि जन्मकी विशे-

षता चुनी जाती है तो हम (Aristocracy) शिष्टजन सत्तात्मक राज्यमें वंशका प्राधान्य देखते हैं जिसमें वंशों या जातियोंके अधिकारोंका शासनप्रणालीपर बड़ा भारी प्रभाव होता है। जब अनुशीलन और शिक्षाकी विशेषता चुनी जाती है तब धर्मगुरुओं या विद्वानोंका प्राधान्य पाते हैं। यदि अवस्था शासन करनेकी योग्यता, समझी जाती है, तो हम राज्यमे वृद्धजनोकी सत्ता देखते हैं। यदि सैनिक योग्यता मानी जाती है तो योद्धाओंका प्राधान्य होता है। यदि स्थिर या अस्थिर सम्पत्तिकी योग्यता मानी जाती है तो जमीन्दारों वा पूंजीपतियोंका प्राधान्य होता है जिसे (Plutocracy) या धनियोंका शासन कहते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि ऊपर कही हुई कई विशेषताओंके संयोगसे शिष्ट-जनसत्तात्मक शासन होता है जो एक गुण विशेषवाले शासनसे अधिक दृढ़ होता है, क्योंकि उसे सभी श्रेणीवालोके विरोधका सामना करना पड़ता है जो अन्य स्वाभाविक गुणोंसे शासनमें विशिष्ट स्थानका दावा रखते हैं। सीसेरो नामक नीतिज्ञ कह गया है कि, सब प्रकारकी शिष्टजनसत्ताओमे (Plutocracy) धनियोंकी सत्ता अत्यन्त घृणित है।

सभी मनुष्य जन्मसे स्वतन्त्र बनाये गये हैं और राज्य सम्बन्धी जो बन्धन मनुष्य अपने पीछे लगा लेता हैं वह उसीका काम होता है। जब एक राज्यमें हजारो आदमी बसते हैं जिनमें गरीब और अमीर, निर्बल और बलवान, उच्च वंशके और निम्न

श्रेणीके सभी प्रकारके लोग निवास करते हैं तब उन श्रेणियों-मेंसे किसी एकका शासनाधिकार हथिया लेना अन्य और मुख्यकर निम्न श्रेणीके लिये कदापि हितकर नहीं हो सकता। राज्य मनुष्यकी रचना है और मनुष्योंके लिये ही वह है। ऐसी अवस्थामें राज्यके सभी निवासियोंको शासनमें एक समान अधिकार प्राप्त होना चाहिये। यह हम मानते हैं कि उनमे जो सबसे अधिक योग्य हैं शासनका प्रबन्ध सदा उन्हींके द्वारा हो सकता है। किन्तु इसका क्या अर्थ है कि, एक अच्छे कुलमें पैदा हुआ मूर्ख आदमी भी प्रधान अधिकारी हो और एक साधारण या निम्नवंशमे पैदा हुआ चतुर और नीतिज्ञ होने-पर भी वह सब प्रकारके अधिकारोंसे वंचित रहे? इसका क्या अर्थ हो सकता है कि पूंजीवाले राज्यके गरीब आदमियोंसे अयोग्य होनेपर भी अपनेहीको योग्य मान शासनाधिकार अपने हाथोंहीमें किये रहें? परन्तु शिष्टजन सत्तात्मक राज्यमे ऐसा ही अवाञ्छनीय कार्य होता है। जिसके परिणाम स्वरूप शासक श्रेणीके लोग तो चैन उड़ाते और अन्य श्रेणीवाले अनेक अत्या-चारोंके नीचे रात दिन पीसे जाते हैं। उक्त विशिष्टताओंमे चाहे जिस विशिष्टताके कारण (Aristocracy) शिष्ट जनसत्ता-त्मक शासन हो उसमें एक बात तो अवश्य पायी जायेगी कि, शासक श्रेणीके लोग—क्योंकि जिस विशिष्टताके कारण वे शास-नाधिकारी बन बैठते हैं उसके कारण—एक अपनी अलग जाति ही बना लेते हैं। फिर तो वे अपनेसे हीन अवस्थावालोंको सदा

अपनेसे नीचा समझ उनके साथ मनमाना वर्त्ताव करते और यहांतक कि उनके साथ साधारण मनुष्यकासा वर्त्ताव भी करना अपनी प्रतिष्ठा और गौरवके विरुद्ध बात समझते हैं। यदि शासनमें अधिकार विशेषके कारण कोई शासक जाति बनती है तो वह ब्यूरोक्रेसी (Bureaucracy) या अधिकारिवर्ग कहाती है और यतः जो लोग सरकारी पदोंपर नियुक्त किये जाते हैं वे (Public servant) या सार्वजनिक नौकर कहे जाते हैं अतः जब वे नौकर ही शासनका कुल अधिकार अपने हाथोंमें कर अपनी एक अलग जातिसी बना लेते हैं तो उसे 'नौकरशाही' भी कहते हैं। यह नौकरशाही जाति वास्तविक प्रजासत्तात्मक राज्योंमें तो बन ही नहीं सकती, क्योंकि वहां नौकरों या सरकारी अफसरों और कर्मचारियोंकी नियुक्ति तथा उनके हटाये जानेमें जनसाधारणका मत काम करता है। इसलिये (Bureaucracy) या अधिकारिवर्ग अथवा नौकरशाही राजतंत्र और शिष्ट जनसत्तात्मक शासनोंहीमें पायी जायेगी। शिष्ट जनसत्तात्मक शासन तो स्वभावहीसे अधिकारिवर्गीय होता है, क्योंकि उसमें तो अधिकारियोंकी अलग जाति पहलेहीसे बनी बनायी होती है और उसकी रचनाकी भी आवश्यकता नहीं उपस्थित होती।

शिष्टजन सत्तात्मक राज्यकी बड़ी [illegible] विशेषता [illegible] करती है। सबसे पहली विशेषता तो यह होती है कि इस [illegible] [illegible] ऐसी राज्य-निकाय [illegible] [illegible] है [illegible]

सवसे पहले यही चेष्टा होती है कि उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं उन्हें इतरजन भलीभांति जान और मान लें। इसलिये वह वाहरी तड़क भड़क खूव दिखाती रहती है। इस तरह वह सदा अपने अधिकारोको दृढ़ करनेके लिये सचेष्ट रहती है। परन्तु शासक श्रेणीवाले अपनेको अन्य लोगोंसे वहुत श्रेष्ठ समझते हैं इसलिये होते होते उन्हें उन लोगोसे मिलने और वात चीत करने तथा मनुष्य समझनेमें भी संकोच मालूम होता है। इस तरह वे उनसे सदा दूर रहनेहीमें अपनी शान समझते हैं। इसका यह फल होना अनिवार्य है कि वे अपनी प्रतिष्ठा, अधि-कार और गौरवको वास्तविकसे वहुत ही अधिक समझने लगें और अन्य जनों या अपनी श्रेणीके वाहरके लोगोंकी ओर कुछ भी ध्यान न दें। यही कारण है कि वे उन्हे निम्न श्रेणीके समझते हैं उनके प्रति कठोर और निर्दय वर्त्ताव करते हैं जो घृणाके साथ होनेके कारण और भी अधिक असह्य होता है। यह दूसरी विशेषता है। शिष्टजन सत्तात्मक शासनमे शासक श्रेणीवाले यह तो जानते ही हैं कि अन्य श्रेणीवालोंके साथ उनका वर्त्ताव अपनी श्रेणीवालोंके समान नही होता है इसीसे उन्हे सदा चिन्ता रहती है कि कहीं उनका शासन असह्य न हो उठे और वे स्वतन्त्र होनेकी चेष्टा न करने लग जायं। इसीसे वे अपना अधिकार दृढ़ रखनेके लिये प्रायः पुरानी ही राज-भांति जारी रखना चाहते और नये परिवर्त्तनोंसे दूर रहते हैं। यह शिष्टजन सत्तात्मक राज्यकी तीसरी विशेषता होती है।

शासनमें प्रजाकी सत्ता होनेका नाम प्रजासत्तात्मक राज्य (Democracy) होता है। यह सत्ता दो प्रकारकी हो सकती है एक यह कि प्रजाजन प्रत्यक्ष रूपसे शासनपर अपनी सत्ता रखें और दूसरे अप्रत्यक्षरूपसे अपने प्रतिनिधियो द्वारा। प्राचीन काल-में जो प्रजासत्तात्मक राज्य होते थे वे वहुधा प्रथम श्रेणीके थे और वर्त्तमान कालके प्रजासत्तात्मक राज्य प्रायः सभी द्वितीय श्रेणीके अन्तर्गत हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि, प्रा-चीन कालके प्रजासत्तात्मक राज्य विस्तारमें आजकलके वहुत विस्तृत राज्योंसे वहुत ही छोटे प्रायः नगरतुल्य होते थे इसीसे प्रजाके लिये शासनमे अपनी प्रत्यक्ष सत्तासे काम लेना सहज-साध्य था। परन्तु आज तो वात ही कुछ और है। प्रजासत्ता-त्मक राज्योंका आज इतना अधिक विस्तार है कि, यदि प्रत्यक्ष सत्ता प्रजा दिखानी भी चाहे तो वैसा करना उसके लिये अस-म्भव ही होगा। इन दोनों प्रकारकी प्रजासत्ताके गुण दोपका पूरा विवेचन हम चौथे अध्यायमें 'वहुमत'के वर्णनमे कर चुके हैं इसलिये यहां सूत्र रूपसे ही इसका उल्लेख किया जाता है। प्रजासत्ता अधिकारकी अपेक्षा स्वतंत्रताको अधिक मान देती है। परन्तु प्रजासत्तात्मक स्वतंत्रताका अर्थ होता है सवके द्वारा शासन। नागरिक लोग स्वयं प्रत्यक्ष रूपसे शासन करनेकी इच्छा करते हैं और यह नागरिकोंकी महती सभा

द्वारा ही सम्भव है। किन्तु ऐसा होना छोटे राज्योंमें और ऐसी ही जनताके बीच सम्भव है जिसे राज्यके नैयमिक कार्यमें लगनेका अवकाश हो। संसारकी परिवर्त्तित स्थितिमें राज्योंका विस्तार बहुत विस्तृत होनेसे न तो राज्यके सभी लोगोंका शासनके लिये किसी एक महती सभामें एकत्र हो कार्य सम्पादन करना ही सम्भव है और न वह इस युगके लोगोंको वांछनीय ही है। कारण मुख्य यह है कि, यदि राज्यके सभी आदमियों द्वारा शासनव्यवस्था होनेके लिये सभी लोग किसी सभामे एकत्र भी हो सकें—जो इतने विस्तृत राज्योमे होना सर्वथा असम्भव ही है—तो भी ऐसी सभासे भयङ्कर भूलें हुए विना नहीं रह सकतीं। कारण यह कि, राज्यके सभी मनुष्योंमें तो शासन और राजनीतिका ज्ञान तथा उनके सम्बन्धके मामलोंको समझनेकी शक्ति होती ही नहीं और साथ ही सब परम स्वतन्त्र होनेके कारण अपने अधिकार असीम समझते ही हैं इसलिये ऐसे जनोंकी सभासे प्रगल्भ वक्ताओका लोगोंको उत्तेजना दे ऐसी बातें स्वीकार करा लेना सहजसाध्य है जो पहले वे कदापि स्वीकार न करते। इससे शासनपर थोड़ेसे चतुर जनोंका प्राधान्य हो जाना निश्चय है जिससे शासन अधिक समयतक प्रजासत्तात्मक न रह अल्पजनसत्तात्मक बन जाता है। यही कारण है कि हम जगत्की वर्त्तमान स्थितिमे प्रत्यक्ष प्रजासत्तात्मक शासनप्रणालीको एक प्रकारसे अनुपयुक्त और अव्यवहार्य समझते हैं।

वर्तमान परिस्थितिमें अप्रत्यक्ष या यों कहिये कि प्रातिनिधिक प्रजासत्तात्मक शासन व्यवस्था ही उपयुक्त और व्यवहार्य है। दोनोंही प्रकारके प्रजासत्तात्मक राज्योंमें (Rule by majority) अर्थात् बहुमतद्वारा शासन प्रजासत्ताका मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। शासन व्यवस्था चाहे राज्यके कुल निवासी प्रत्यक्षरूपसे करें या अपने प्रतिनिधियोंद्वारा, यह तो निश्चय ही है कि व्यवस्थाका काम अनेक व्यक्तियोके ऊपर होगा। अनेक व्यक्तियोंमे मतभेद होना भी बिलकुल ही स्वाभाविक बात है। ऐसी अवस्थामे मतभेद रखते हुए भी सब मिलकर कोई काम कैसे कर सकते हैं यदि कोई ऐसा मार्ग न निकाला जाय जिसका अवलम्बन करना सभी लोगोके लिये अनिवार्य और अवश्यमान्य हो। इसीसे बहुमतको प्रतिष्ठा करना प्रजासत्ताका मूल सिद्धान्त ठहराया गया है। सौ आदमी मिलकर किसी प्रश्नपर खूब वाद-विवाद कर सकते और अपने भिन्न भिन्न मत प्रकटकर वे एक दूसरेको अपने पक्षमे लानेकी पूरी चेष्टा कर सकते हैं। किन्तु यदि उन सबको वास्तवमे कार्य चलाना अभिप्रेत है, तो अन्तमे उन्हें अपने मतका आग्रह त्याग बहुमतके सामने सिर झुकाना ही पड़ेगा चाहे वे तब भी अपना वही मत रखते हो और शुद्ध हृदयसे समझते हों कि बहुपक्ष हमारे मतके विरुद्ध कार्य करके भयङ्कर भूल कर रहा है। जब इतना त्याग करने—बहुमतके सामने अन्तमे स्वमतका आग्रह छोड़ने—को किसी संस्थाके लोग सच्चे हृदयसे तैयार हों तभी सुचार रूपसे अनेक मनुष्य

मिलकर किसी कार्यका सम्पादन कर सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध एकमात्र अन्तःकरणसे होता है उन प्रश्नोंके सम्बन्धमें कोई मनुष्य सारे संसारके विरुद्ध अपने अन्तः-करणका आदेश मान कार्य करनेको वाध्य होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, राजनीतिक मामलोंमें भी इस प्रकार अन्तःकरणके आदेशका आश्रय लेना विहित है। हम एक प्रकारसे यह कह सकते हैं कि अन्तःकरण या आत्माके आदेशको वहुमतपर प्रधानता धार्मिक और आत्मिक मामलोंमें ही देना ठीक है। कारण यह कि यदि आदमी वात वातमें अन्तःकरणके आदेशकी दुहाई देने लगे तो दस आदमियोंका मिलकर कोई सार्वजनिक कार्य करना ही असम्भव हो जायगा, क्योंकि फिर तो सभी अपने अपने अन्तःकरणके आदेशकी दुहाई दे वहुमतकी अवहेलनाकर स्वेच्छाचारितासे काम ले सकते हैं। ऐसी अवस्थामें एक प्रश्न यह भी उठता है कि, यदि किसी प्रातिनिधिक संस्थाका कोई सभ्य सच्चे हृदयसे संस्थाके वहुमतको हानिकारक समझता और अपने अन्तःकरणके आदेशको ही ठीक समझता है तव उसका कर्तव्य क्या है? क्या वह वहुमतके विरुद्ध अपने अन्तःकरणके आदेशके अनुसार काम करने तथा औरोंको भी अपने मतका वनानेका अधिकार नहीं रखता?

वास्तवहीमें उक्त प्रश्न वड़ा पेचीला है। अन्तःकरणका आदेश मान काम करना वैयक्तिक और धार्मिक विपयोंमें तो अ-

न्यन्त इष्ट हैं, इसपर किसीको कुछ आपत्ति ही नहीं हो सकती। किन्तु उस अवस्थामें भी मनुष्य सन्मार्गपर तभी बना रह सकता है जब वह सदाचार आदि द्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल और स्वच्छ रखे। किन्तु सार्वजनिक लौकिक मामलोंमें तो अन्तःकरणके आदेशको इतना प्राधान्य नहीं दिया जा सकता। वहां तो यदि सुचारु रूपसे मेलके साथ अनेक आदमियोंके काम करनेका कोई ढङ्ग है तो यही कि परस्पर एक दूसरेके विचार ध्यानपूर्वक सुन बहुमतसे जो कुछ निश्चय हो उसके अनुसार सभी आचरण करें। हां, यदि बहुमत स्थिर हो जानेके पश्चात् भी किसी सभ्यकी अन्तरात्मा इस बातपर दृढ़ बनी रहे कि बहुमत भूलमें है और अपने विचार ही सर्वथा ठीक हैं, तो उस व्यक्तिको पूर्ण अधिकार है कि उसके विरुद्ध निर्णय हो जानेपर भी वह बहुमतके सामने सिर झुका कार्य न करे। यह वैयक्तिक अधिकार या स्वतन्त्रता तो प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त है और इसके विरुद्ध किसीके आचरण [illegible] [illegible] हैं। परन्तु क्या ऐसे व्यक्तिको यह भी अधिकार है कि वह अपने अन्तःकरणको [illegible]

[illegible]

वहुमतसे हुए निर्णयको रद्द न करा ले तवतक वह व्यक्ति उस वहुमतके निर्णयके विरुद्ध और नहीं तो एक इसीलिये काम करनेका अधिकार नहीं रखता कि सम्भव है कि उसका अन्तः-करण ही शुद्ध न हो जिससे उसके हृदयमें वहुमतके विरुद्ध विचार पैदा हो रहा हो। कारण यह कि मनुष्य जवतक मनुष्य है तवतक उससे भूलें होनी अनिवार्य है। ऐसी दशामें किसी व्यक्तिविशेषका अपने ही अन्तःकरणको परम शुद्ध मानना और वहुपक्षके सभी लोगोंके अन्तःकरणोंको भूल करता हुआ सम-झना, सर्वथा ही अनुचित, अहम्मन्यतापूर्ण तथा प्रजासत्ताके मूलभूत सिद्धान्तपर ही कुठाराघात करना है। किसी व्यक्तिका अपने अन्तःकरणके आदेशको ही ठीक तथा वहुमतके निर्णयको भ्रमपूर्ण समझ एकान्तमें जा चुपचाप वैठकर कार्यमें वहुमतको भ्रमपूर्ण सिद्ध होता देखनेकी प्रतीक्षा करनेमें जो हानि हो स-कती है उससे लाखोंगुनी हानि उसके वहुमतके विरुद्ध भाषण करनेसे होगी। कारण यह कि, यदि किसी सार्वजनिक संस्थाके सभी सभ्योंके विचार इस प्रकारके हो जाये और वे अपने अन्तः-करण या आत्माकी दुहाई दे वहुमतका तिरस्कार करने लग जायें तो उस संस्थासे एक एक करके सभी सभ्योंको थोड़े ही कालमें पृथक् हो जाना पड़ेगा। परन्तु हम तो यह कहते हैं कि जब अन्तःकरणके आदेशके सामने वहुमतका सिद्धान्त सार्वजनिक लौकिक मामलोंमें तुच्छ ठहरा दिया जाय तो फिर किसी भी प्रकारकी सार्वजनिक संस्थाका होना ही व्यर्थ है,

क्योंकि फिर तो कोई भी आदमी अपनी निर्बलताओंके कारण किसी सार्वजनिक प्रस्तावके विषयमें कह सकता है कि हमारा अन्तःकरण इसे स्वीकार करनेका आदेश नहीं देता। फिर तो यह उन निर्बलात्माओंका एक प्रभावपूर्ण शस्त्रमात्र हो जायगा।

ऊपर बहुमतकी अवज्ञाके जो दोष सूत्ररूपेण बताये गये हैं वे तो साधारण समयके साधारण व्यवहारके सम्बन्धके हैं। जिस समय राज्यपर घोर संकटका समय उपस्थित हो यदि उस समय राज्यवासी अपनी प्रतिनिधिसभाके बहुमतद्वारा संकटसे छुटकारा पानेके अर्थ कोई कर्तव्य कर्म निश्चित करें और उस समय दो चार प्रभावशाली व्यक्ति उस निश्चयको अपनी आत्माके विपरीत समझ अमान्य ठहरावें और अपने अन्तःकरणके आदेशको ही ठीक मान स्वयं उसके अनुसार आचरण करें तथा औरोंको भी अपने मनका अनुसरण करानेको

एक दो प्रभावशाली प्रतिनिधियोंको सभाका कार्य यह निश्चय अन्तःकरणके विरुद्ध प्रतीत होता है और वे समझते हैं कि लड़नेसे राज्यका नाश हो जायगा। हम यह भी मान लेते हैं कि वे सच्चे दिलसे ऐसा समझते हैं। अब उनका क्या कर्तव्य है? क्या उन्हें शत्रु से सामना करनेके लिये तैयार होनेवाले राज्य-वासियोंमे घूम घूमकर यह प्रचार करते फिरना चाहिये कि भाई लड़ो मत, लड़नेसे राज्य मटियामेट हो जायेगा? हम तो यही कहेंगे कि कुछ प्रभावशाली व्यक्तियोका बहुमतके विरुद्ध ऐसा अनुचित आचरण करना जितना नाशक हो सकता है उतना कदाचित् आक्रमणकारी विदेशी शत्रु के गुप्तचरोंकी कार-रवाइयां भी नही हो सकतीं। पहले तो सार्वजनिक मामलोंमे किसी महान्से महान् पुरुषको यही समझनेका कोई अधिकार नहीं है कि वह अकेला संसारकी डेढ़ अकल रखता और बाकी आधी अकल कुल संसारभरके लोगोमें बंटी हुई है जिसका कुछ ही भाग बहु पक्षवालोंके हिस्से पड़ा है। किन्तु जो अपनेको ही डेढ़ अकलका स्वामी समझ ऐसे समय राज्यवासियोंको युद्धसे पराङ्मुख करते फिरेंगे वे अपनी नेकनीयती तथा शुद्धान्तःकरणका कौनसा ऐसा प्रमाण दे सकते हैं जो जन-साधारणको मान्य हो। वे अधिकसे अधिक अपनी नेकनीयती-का यही प्रमाण दे सकते हैं कि उन्होने अपने अबतकके जीवनमें देशवासियोके हितके अनेक काम किये और स्वार्थत्यागपूर्वक किये हैं, ऐसी दशामें आज उनकी नीयत कैसे खराब हो सकती

हैं! परन्तु यह कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। संसारमें ऐसे अनेक मनुष्य मिलेंगे जिन्होंने जन्मभर न जाने कितने लोकोपकारी कार्य किये, किन्तु अन्त समयमे वे कर्त्तव्यभ्रष्ट हो ऐसे पतित हो गये कि थूककर चाटते हुए अर्थात् अपनी ही बातोंका खंडन करते तथा अपने ही किये हुए लोकोपकारी कामोंके विरुद्ध आचरण करते हुए उन्हें तनिक भी लोकलज्जा नहीं मालूम होती। इस सम्बन्धमें गोस्वामी तुलसीदासजीकी यह चौपाई हमे भले समय याद आ गयी है कि, "जनम जनम मुनि यतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाही।" यहां इसकी चर्चा करनेका इसके सिवा हमारा और कोई अभिप्राय नहीं कि, जन्मभर एक प्रकारका आचरण करनेके पश्चात् भी मनुष्यकी बुद्धि अन्तमे कुछको कुछ होती देखी जाती है। ऐसी दशामें अपनी नेकनीयतीके विषयमें उक्त प्रमाण देनेका कोई विशेष मूल्य नहीं हो सकता। बहुमतके विरुद्ध आचरण करनेवाला व्यक्ति न केवल देशवासियोंहीको हानि पहुंचानेका कारण हो सकता है, वरं स्वयं उसकी प्रतिष्ठा भी मिट्टीमें मिल सकती है। कारण यह कि उसपरसे लोगोंका विश्वास उठ जाना अवश्यम्भवी है जिनमेंसे कुछ तो यह समझ सकते हैं कि आनेवाले संकटोंसे भयभीत हो यह इस प्रकार अन्तःकरणको दुहाई दे रहा है जो इतनेपर भी अपने अन्तःकरणका आदेशमान स्वयं बहुमतके अनुसार काम न कर चुपचाप नहीं बैठ रहता और चारोंओर अपने विचारोंका प्रकाश करता फिरता है इसका कारण यही

है जिससे अपनी पुरानी प्रतिष्ठा बनी रहे और लोग उसे नेक-नीयत समझें। इसके सिवा कितने ही ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो यह सन्देह करने लगें कि, कहीं यह शत्रु से तो नहीं मिल गया है। यह तो लोगोंके विचारकी बात है। यदि कहीं उसकी बातोंका प्रभाव पड़ा और देशके बहुतसे लोग उसके पक्षमें हो गये, तो उसका फल यही हो सकता है कि वे शत्रु से युद्ध करने-के लिये न तैयार हों अगरमगरमें पड़ देशको शत्रु से पादाक्रान्त किये बिना नहीं रह सकते।

परन्तु यदि राज्यका शासन प्रतिनिधियोंके बहुमतके अनुसार करना है तो साथ ही यह भी कर्तव्य है कि राज्यके निवासी ऐसे ही आदमियोंको अपने प्रतिनिधि चुनें जो समझदार, सदा-चारी और योग्य हों। ऐसा होना ठीक ठीक तभी सम्भव हैं जब राज्यके कुल नहीं तो अधिकांश नागरिक शिक्षित और समझदार हों। कारण यह कि ऐसा न होनेसे वे शीघ्र धूर्तोंके प्रभावसे प्रभावित हो ऐसे प्रतिनिधि चुनकर भेज देंगे जो पहले-हीसे अयोग्य और दुराचारी होंगे। फिर अधिकार पानेपर तो उसका रहासहा गुण भी हवा हो जायेगा। कारण यह कि अधिकार पानेपर उसका नशा होना स्वाभाविक ही है। प्राचीन कालके प्रत्यक्ष प्रजासत्तात्मक शासन और वर्त्तमान कालके अप्रत्यक्ष या प्रातिनिधिक प्रजासत्तात्मक शासनमें मुख्य करके यह अन्तर है कि, उस समय शासनमें सभी नागरिकोंका समान भाग होता था, परन्तु इस समय निर्वाचनोंमें सर्वोत्तम व्यक्ति

चुने जाते और प्रत्यक्ष रूपसे वे ही शासन व्यवस्था करते हैं। शासनका अधिकार वैसे तो कुल नागरिकोंको होता है, किन्तु उसका प्रयोग उनके प्रतिनिधि ही किया करते हैं। किन्तु कई बातोंमें अब भी सर्वसाधारण प्रजासत्तात्मक राज्योंमे प्रत्यक्ष भाग लेते हैं। जैसे शासनपद्धति सम्बन्धी कानूनोमे केवल प्रतिनिधियोहीकी सम्मति निर्णायक नहीं होती, वरं सभी नागरिकोका वोट लेना अवश्य कर्तव्य होता है।

प्रजासत्तात्मक राज्य सभी प्रकारके राज्योंसे श्रेष्ठ होता है। इसका मुख्य कारण यह कि उस राज्यके सभी नागरिकोके हृदयमें स्वतन्त्रता और आत्मप्रतिष्ठाके भाव बने रहते और वे संसारके अन्य राज्योंके मुकाबिले अपने राज्यकी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये विना किसीके कहे सुने ही शासन व्यवस्थाको सफल करनेकी चेष्टामे सदा संलग्न होते हैं। सच पूछिये तो एकमात्र प्रजासत्तात्मक राज्य हीमे यह सम्भव है कि, लोग उसे अपना समझ उसकी सफलता और उत्कर्षकी चेष्टामे रहते हैं। और राज्योमे यह बात नहीं होती क्योंकि लोग अपनेको किसी ऐसी शक्तिकी अधीनतामें देखते हैं जिसे वे अपनी नहीं दूसरेकी समझते हैं। सभीको अपने राज्यकी प्रतिष्ठा बनाये रखने और उन्नतिशील करनेकी चिन्ता होनेके कारण ही प्रजासत्तात्मक राज्यमें सर्वसाधारणको स्वाभाविक ही यह चिन्ता होती हैं कि वे अपनेको सब प्रकारसे योग्य बनायें जिससे योग्यसे योग्य प्रतिनिधि चुनने और प्राप्त करनेमें

वे समर्थ हो सकें। दूसरी विशेषता प्रजासत्तात्मक राज्यकी यह होती है कि, मनुष्यको अपनी ईश्वरप्रदत्त सारी भीतरी शक्तियोंको प्रस्फुटित करनेका पर्याप्त अवसर और अवकाश प्राप्त होता है जिससे कोई भी मनुष्य कितने ही नीच कुलमें या बुरी स्थितिमे जन्म लेकर भी अपने गुणोंके कारण उच्चसे उच्च पदोंको प्राप्त हो सकता है। इसी सम्भावनाके कारण ऐसे राज्योंके निवासियोंमें परस्पर ऊंच नीचका बुरा भाव नहीं रह सकता और सर्वसमानताका प्राधान्य होता है। किसी विशेष कुल, जाति या वर्गके मनुष्यका ही सदाके लिये प्राधान्य होना और इसलिये शासन व्यवस्थामे स्वेच्छाचारिताका स्थान पाना असम्भव ही होता है। कोई व्यक्ति राष्ट्रपतिके पदको प्राप्त होकर भी अपनेको सर्वसाधारणका सेवकमात्र समझता और उनकी इच्छाके अनुसार शासन व्यवस्था करना उसके लिये अवश्य मान्य कर्तव्य होता है। हम भलीभांति समझते हैं कि, बहुत अधिक समयके लिये प्रतिनिधियोंके निर्वाचनकी दूषित प्रथाके कारण वर्तमान कालके प्रजासत्तात्मक राज्य भी उतने दोष रहित नहीं जितने वे अपेक्षित हैं और हमारी समझसे अभी कितने ही ऐसी व्यवस्थायोंकी उनके लिये अति आवश्यकता है जो उन्हें अत्यन्त प्रजासत्तात्मक बना सकें। किन्तु वर्तमान पद्धति भी राजतंत्र और शिष्ट जनसत्तात्मक शासन प्रणालियोंसे लाख दर्जे अच्छी है। पूर्णताको प्रजासत्तात्मक राज्य क्योंकर और किन अवस्थाओमे पहुंच सकते हैं, इसपर पुस्तकके परि-

शिष्ट भागमें अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें विचार किया गया है जहां रूसकी वर्तमान सोविट शासन प्रणालीका विवेचन किया गया है जो अनेक अंशोंमें पूर्णताको पहुंची हुई प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली कही जा सकती है।

(परिशिष्ट)

सोविट (बोलशेविक) शासनप्रणाली।

—:•:—

प्रजासत्तात्मक शासन वास्तवमे वही हैं जिसपर जनताका पूरा पूरा अधिकार हो। इसलिये प्रजासत्तात्मक शासनमें [illegible] समानता तथा स्वतन्त्रताके सिद्धान्तोका प्रचार [illegible] होता है। इन सब बातोंकी चर्चा पुस्तकके अनेक [illegible] की जा चुकी है। इस परिशिष्टमे हम सोविट [illegible] कुछ विशेषताओंपर प्रकाश डालना चाहते है जो कुछ [illegible] रूस राज्यमे प्रचलित है। कारण यह कि यह [illegible] ढङ्गकी एक ही है और यद्यपि अन्यान्य [illegible] भी राज्यमे इसकी विशेषताओंका होना [illegible] अभीतक इसके सिवा इस ढङ्गकी [illegible] भागमे प्रचलित नहीं है। इसलिये उसके [illegible] सम्बन्धी सिद्धान्तोंके सम्बन्धमे कुछ [illegible]

होगा। 'बोलशेविक' शब्द रूसी भाषाका है जिसका अङ्गरेजीमें अर्थ (Grand Majority) अर्थात् बहुत बड़ा बहुमत है। रूसकी वर्तमान सरकार 'बोलशेविक' इसी लिये कही जाती है कि वह जनताके बड़े बहुमतसे चलती है। वहांकी शासनप्रणाली 'सोविट' नामसे प्रसिद्ध है। 'सोविट' रूसी शब्द है जिसका अर्थ 'सभा' होता हैं। जबसे रूसके जारके उत्तराधिकारी केरेन्सकीके शासनका अन्तकर बोलशेविकोंने पेनशेविकोंसे रूसका शासनभार अपने हाथमें ग्रहण किया है उसी समयसे उनके अनेक आचरणोंके कारण संसारके अन्य देशोंकी गवर्नमेण्ट उनकी जानी दुश्मन हो गयी है। 'मेनशेविक'का अर्थ 'अलपपक्ष' है। मो० केरेन्सकीने जारके शासनका अन्त होनेपर राज्यकार्य तो अपने हाथमें कर लिया, किन्तु फिर भी वह जर्मनीसे युद्ध जारी रखना चाहता था। इसलिये शासनाधिकारी होते हुए भी उसका पक्ष मेनशेविक ही रहा और बोलशेविक और अधिक युद्धके विरोधी बने रहे। अन्तमे मेनशेविकोंके हाथसे शासन उन्हींके हाथमें आ गया।

यहांतक कि अमेरिका, फ्रांस आदि देशोंकी प्रजासत्तात्मक नामधारिणी सरकारें भी रूसके अत्यन्त प्रजासत्तात्मक शासनयंत्रकी दुश्मन हो गयीं। इसका मुख्य कारण यही था कि, उक्त देशोंमे प्रजासत्तात्मक शासन होनेपर भी धनिक श्रेणीवालोंहीका बहुत कुछ प्राधान्य है और बोलशेविक सरकारने खुल्लमखुल्ला संसारसे पूञ्जीवालोका प्राधान्य नष्ट करनेका अपना दृढ़

विचार प्रकट कर रखा है। बोलशेविक सरकारका मुख्य उद्देश्य पूर्ण रूपसे मनुष्यमात्रमें सर्वसमानताके भावका प्रचार करनेका है। हम नहीं कह सकते कि कहांतक उसको इस उद्देश्यमें सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि रूसकी अवस्थाका ठीक ठीक पता ही अभीतक रूसके बाहरके लोगोंको नहीं चल पाया है। इसका मुख्य कारण यही है कि, बोलशेविकोंको संसारके कितने ही बड़े बड़े राज्योंसे युद्ध करना पड़ रहा है और गत महायुद्धमें विजय प्राप्त किये हुए राज्योंसे उनका अभीतक मेल नहीं हुआ है। यही नहीं वे राज्य बोलशेविक सरकरको अभी-तक समस्त रूसकी वास्तविक सरकार भी नही स्वीकार करते हैं। जब कोई राज्य किसी अन्य राज्यसे युद्धकी अवस्थामें रहता है तब उसे अपने छिद्र छिपाने और शत्रु को अपनी अवस्था का ठीक ठीक पता न चलने देनेके लिये विशेष प्रबन्ध करने ही पड़ते हैं। इसलिये बोलशेविक सरकारने भी ऐसा कड़ा प्रबन्ध कर रखा है कि, बाहरवालोंको वहांकी ठीक अवस्थाका पता चलना अनेक अंशोंतक असम्भव हो रहा है। तथापि वहां बाहरवालोंके जानेकी सर्वथा रोक टोक नहीं है। इसलिये वहांसे लौटे हुए लोग समय समयपर सोवियट शासन प्रणाली तथा रूसकी अवस्थाके सम्बन्धमें तरह तरहकी बातें बाहर जगत्‌को बताते रहते हैं। परन्तु 'जिनकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' की उक्ति इन व्यक्तियोंके सम्बन्धमें अक्षरशः चरितार्थ होती है। सच है भी ठीक जिस प्रकार एक ही वस्तु

आंखोंपर रंग विरंगे शीशे लगाकर देखनेसे रंग विरङ्गी दिखाई पड़ती हैं उसी प्रकार प्रजासत्ताकी दृष्टिसे देखनेवालोंको सोविट शासन प्रणाली अत्यन्त प्रजासत्तात्मक और स्वेच्छाचारिताकी हवा सेवन करनेवालोंको स्वेच्छाचारितापूर्ण दिखती है। परन्तु उस प्रणालीके सम्बन्धमें हमारा विचार तो यह है कि, प्रणाली अनेक अंशोंमे दोष रहित है, किन्तु देशकालके विचारसे वर्तमान शासकोंको वहुत कड़ाईसे शासन करना पड़ता है इसलिये वह इस अंशतक सदोष है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि अन्य राज्य वोलशेविक रूसके विरूद्ध शत्रुताका भाव त्याग दें और सोविट शासनप्रणाली ठीक तौरपर कार्यमे परिणत होने पावे, तो जगत्की वर्तमान शासन-पद्धतियोंमें जन-साधारणके हितके लिये युगान्तर उपस्थित हो जाय।

वोल्शेविकरूसके एक प्रकारसे सर्वे सर्वा मोशियो लेनिन और मो० ट्रोजकी हैं। इन्हीं नेताओंकी संगठनकी योग्यताके कारण क्रान्तिसे होकर निकलने और वाह्य जगत्के शत्रु वने रहनेपर भी वोल्शेविकोंने ऐसा वढ़िया संगठन कर लिया हैं कि, चारों ओरसे आक्रमणपर आक्रमण होनेपरभी दिनपर दिन वोल्शे-विक शासन प्रवल ही होता जा रहा हैं। पूंजीवालोंका सर्वत्रसे प्राधान्य नष्ट कर उनके स्थानमें जनसाधारण श्रमजीवियोंका प्राधान्य स्थापित करना और इस प्रकार साम्यवाद मतको पराकाष्ठातक कार्यरूपमें परिणत करना उक्त नेताओं और उनके अनुयायी वोलशेविकोंका प्रधान लक्ष्य है। यही वोल्शेवि-

कोंकी इतनी असाधारण सफलताका मुख्य रहस्य हैं। यह तो सभी जानते हैं कि सभी देशोमे गरीबोही और श्रमजीवियोंही-की संख्या बहुत अधिक हुआ करती है और पूजीवाले अल्प संख्यक ही होते हैं। इसलिये यदि पूंजीवालोंसे प्राधान्य छीन उन श्रमजीवी गरीबोको सौंपनेकी जो भी स्कीम होगी वह स्वभावतः जनसाधारणको अत्यन्त प्रिय होगी। उस दशामें यह भी स्वाभाविक बात है कि पूजीवाले धनी लोग उस स्कीम-के विरोधी होंगे परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है किसीभी देशमें धनिकोंकी संख्याही कितनी होती है? यही कारण है कि रूस के धनी और व्यापारियोंके घोर विरोध करने और युद्ध करने-पर भी वोल्शेविकोकी शासन प्रणाली दिन दिन उन्नतिको प्राप्त होती जा रही है। जब देशके निवासियोंका बहुत ही अधिक भाग उस प्रणालीको अपनी समझता और उसके कारण चैनकी वंशी बजाता हैं तब यह कैसे सम्भव था कि कोटि कोटि उन श्रम-जीवी रूसवासियोंके सामने मुट्ठीभर पूंजीवाले तथा उनके पिट्ठू ठहर सकते या विदेशी शक्तियां उसका अन्त करनेमे समर्थ होतो? इसीसे संसारने देख लिया है कि, रूसके पूजी-पति व्यापारी, जारशाहीके उपासक कितनेही रूसी जेनरल, सोविट शासनप्रणालीके आतंकसे भयभीत इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, इटली, जापान आदि धनिक प्रधान देशोंकी सेनायें एक एक करके और सम्मिलित रूपसे वोल्शेविकोंका अन्त कर रूसकी प्राकृतिक सम्पत्तियोंपर अधिकार करनेके लिये खड़ी हुई और

बातकी बातमें पानीके बुलबुलेकी तरह उनका अन्त होगया। अवश्यही अपनी जड़ जमानेके लिये और अपने ऊपर नये आकाश और नींचे नयी पृथ्वीकी रचनाके लिये वोल्शेविकोंको रूसके पूंजीपतियों और व्यापारियोंको बहुत तङ्ग करना पड़ा होगा खासकर इसलिये कि वे प्रारम्भहीसे वोल्शेविकोंका अन्त करनेकी न्याय और अन्याय चेष्टा कर रहे थे। पूंजीपतियों-पर जो अत्याचार हुए उनका कोई भी व्यक्ति हृदयसे समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु आवश्यकताही मनुष्यसे सब कुछ कराती है और कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि अत्यन्त आवश्यकताके वश होकरही वोल्शेविकों-ने पूजीपतियोंपर इतने अत्याचार किये हैं। स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि वोल्शेविकोंको रूसका प्रधान अत्याचारी जारके बाद ही नहीं प्राप्त हुआ तो भी जिस समय वह प्राप्त हुआ उस समय रूसकी अवस्था जारशाहीकीसी ही थी। जार-के हाथसे शासन निकलकर जिन मो० केरेन्सकी आदिके हाथ लगा था वे भी साम्यवादी थे किन्तु वोल्शेविकोंकी भांति चरम पन्थी साम्यवादी वे नहीं थे। यही कारण है कि जारशाहीका अन्त करके भी वे उसके सबसे खोटे कर्म युद्धको जारी रखना चाहते और जारकी जगह स्वयम् रूसके शासक बन राज्य करना चाहते थे। वोल्शेविकोंको उनसे शासन छीन न केवल वह पुरानी रद्दी स्थिति ही एकदम बदल देनी थी, बल्कि क्रान्ति-से बुरी तरह जर्जरित रूसमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित करने-

का विकट कार्य्य भी करना था। ज्यों त्यों कर बोलशेविक नेताओंने अपने मार्गकी सारी कठिनाइयां हटाई और इसमें ऐसा दृढ़ संगठन किया कि उनके प्रबलसे प्रबल शत्रुओंको भी आज स्वीकार करना पड़ता है कि उनकी शक्ति अजेय और अदम्य है। अब तनिक इस शक्तिके रहस्यका ज्ञान प्राप्त करिये।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि जो काम अपना समझकर किया जाता है वह इससे अधिक उत्साह और त्यागसे किया जाता है जितनेसे किसीके डरसे कदापि नहीं कर सकते। बोलशेविकोंका संगठन ऐसा है जिसमें सभी श्रमजीवियोंको शासनाधिकार प्राप्त है जिससे वे सभी स्वयं शासन अपना समझते और जिसके लिए सुखे [illegible] हैं इसके रूसको विदेशियों तक [illegible]

कामोंके जिम्मेवार हैं जिसके प्रतिनिधियोंकी संख्या २०० कही जाती है और जो सीधे श्रमजीवियों और किसानोके प्रति जिम्मेंवार हैं। जिस समय लेनिन रूसका शासन अपने हाथमें लेने लगे थे उसी समय उन्होंने हुक्म निकाल दिया था कि किसान जमीन्दारोसे जमीन छीन उनपर अपना अधिकार जमा ले और कारखानोंमें काम करनेवाले मजूर उन कारखानोंपर अधिकार कर लें। इसी प्रकार सैनिकोंको उपदेश मिलता था कि वे अफसरोंकी आज्ञा पालन न करें और युद्ध क्षेत्रसे लौटकर अपने अपने घरोंको चले जाँय। जमीन्दारोके अत्याचारोंसे किसान, कारखानेके पूंजीवाले मालिकोंके घोर अन्यायोंसे मजूर और युद्धसे सैनिक ऊव तो एकदम गये ही थे, उन्होंने झटपट अपने अत्याचारियोंसे स्वतन्त्र होनेकी घोषणा कर दी और अपनी अपनी सभाएं या पञ्चायतें स्थापित कर लीं जो आगे चलकर स्थानीय सोविटोंकी जड़ हुई। जैसा ऊपर बता आये हैं रूसी भाषामें 'सोविट" शब्दका अर्थ सभा हैं। इसे हम अपनी भाषाके 'पञ्चायत, शब्दका पर्यायवाची भी कह सकते हैं। इस पुस्तकके अनेक स्थनोंपर हम प्रतिनिधित्वके सम्बन्धमें विचार करते हुए यथा सम्भव अधिकसे अधिक निर्वाचन या मतदाता होने, थोड़े समयके लिये ही निर्वाचन होने और निर्वाचकको इच्छानुसार अपने प्रतिनिधियोंको वापस बुला उनके स्थानपर नये प्रतिनियोंकी नियुक्तिकी आवश्यकता प्रतिपादित कर चुके हैं। ये सभी बातें रूसकी इन सोविटोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ

पूर्णताके साथ देखी जाती हैं। और इसीलिये हमें यह परिशिष्ट देना आवश्यक प्रतीत हुआ है अब तनिक इन सोवियटकी रचना तथा राय प्रणाली आदिके विषयमें संक्षेप में कुछ बातें सुनिये। यहां यह भी बता देना अप्रासंगिक न होगा कि जो बातें हम सोवियटोंके सम्बन्धमें यहाँ लिख रहे हैं वे रूसमें जाकर अपनी आँखों देखीका वर्णन करनेवाले सिडनी एच० फाउलर और बरट्रेण्ड रसेलके लेखोंसे ली गयी है जिनकी पुष्टि अन्य प्रत्यक्ष दर्शियों द्वारा भी समय समयपर होती रही है। सम्भव है कि इस वर्णनमें कुछ त्रुटि हो, पर यदि कोई होगी भी तो नाममात्र-की ही होगी, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है, क्योंकि इसमें सोवियटोंके सम्बन्धकी जिस व्यवस्थाकी चर्चा है, वह इतनी पूर्ण न होती तो बोलशेविकोंका इतनी विरोधी शक्तियोंके मुकाबले कार्योंका सफल [illegible] होना।

हो गया है। सोविटोंके सम्बन्धमें कुछ बतानेके पहले हम एक दृष्टान्त दे देना ठीक समझते हैं जिससे उनके महत्वका ठीक ठीक अनुमान किया जा सके। मान लीजिये कि एक देशका शासनप्रबन्ध करना है जिसमे चार प्रदेश, प्रत्येक प्रदेशमे कई जिले, प्रत्येक जिलेमें कई तहसीलें और प्रत्येक तहसीलमें कई गांव हैं। यतः देशका प्रबन्ध सम्मति दे सकनेकी योग्यता रखनेवाले सभी देशवासियोंकी सम्मतिसे करना है। उसके लिये देशके सबसे छोटे भागसे प्रबन्ध कार्य आरम्भ करना होगा। इसलिये पहले गांवोंको ही लेना होगा। एक गांव यदि इतना बड़ा नही है कि, उसमें कई मुहल्ले हों, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु बड़े गांवमे मुहल्लोंहीसे पहले आरम्भ करना होगा। यदि प्रत्येक मुहल्लेके लोग अपने मुहल्लेके सब तरहके झगड़े निपटाने तथा मुहल्लेसे सम्बन्ध रखनेवाले सर्वीय कर्मोंके प्रबन्धके लिये मिलकर कुछ समयके लिये पाँच पञ्च चुन लिया करें और उनके निर्णयके अनुसार काम करना अपना कर्त्तव्य समझें तो स्पष्ट है कि किसी व्यक्तिपर किसी प्रकारका अन्याय होनेकी सम्भावना भी एक प्रकारसे मिट जाय और मुहल्लेके काम-में बाधाभी कुछ न पड़े। इस तरह मुहल्लोंकी पञ्चायतें निष्पक्ष होंगी, क्योंकि पञ्चोंको चुननेवाले वेही लोग होंगे जिनसे उन-का कलहीसे काम पड़ेगा और जिनके आचरणका उन्हे पूरा पता है। मुहल्लोंकी पञ्चायतें मिलकर गांव सम्बन्धी प्रबन्धके लिये यदि अपने चुननेवालोंकी राय जानकर गांवकी एक पञ्चा-

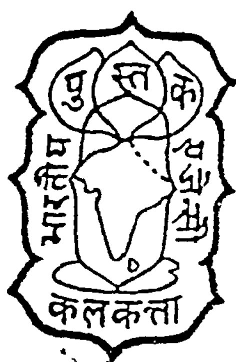
यत स्थापित करें और अपने मुहल्लेकी जनसंख्याके अनुसार उसके मेम्बर चुने तो गांवके प्रवन्धके लिये निष्पक्ष और जानकार प्रवन्धकर्ता मिल जाँयगे जिससे वहांपर किसी प्रकारके अन्याय होनेकी सम्भावना न रह जायगी। इसी प्रकार यदि सव गांववाली मिलकर तहसीलकी, सव तहसीलवाली जिलेकी; सव जिलेवाली प्रदेशकी और सब प्रदेशवाली देशकी पञ्चायतका चुनाव अपने अपने निर्वाचकोंकी सम्मतिसे थोड़े समयके लिये कर लें। और उस समयके भीतरभी किसी पञ्चके अयोग्य सिद्ध होनेपर उसे वापस वुला उसके स्थानपर दूसरेकी नियुक्तिका अधिकार हो तो स्पष्ट है कि, ऐसी पञ्चायते वहुत करके दोषरहित और कार्योपयुक्त होगी। ऐसीही व्यवस्था रूसकी सोविटोकी भी जान पड़ती है।

मुहल्लोकी सोविट है या नहीं इसका निश्चयतो हम नहीं कर पाये हैं। पर गांव गांवमे सोविट हैं, यह निर्विवाद वात है। गावकी सोविटके ऊपर वोलोस्ट् नामकी एक सोविट (सभा) है जो कई गांवकी होती है। वोलोस्टसे ऊपर गुवरनिया सोविट होती हैं। डिस्ट्रिक्ट (जिला) सोविटप्रत्यक्ष रूपसे मजूरों और किसानोके प्रति जिम्मेवार हैं। डिस्ट्रिक्ट सोविटोंके चुने हुए लगभग २०० प्रतिनिधियोंकी आल रशिया सोविट है जिसकी सेण्ट्रल इक्जीक्यूटिव (प्रधान कार्यकारिणी) के प्रति मो० लेनिन और मो० ट्रोजकी जिम्मेवार हैं। सोविटके जो प्रतिनिधि होते हैं वे अन्य देशोके प्रतिनिधियोंक तरह निर्वाचित होनेके पश्चात् मन-

मानी सम्मति देनेकी स्वतन्त्रता नहीं रखते। खास खास प्रश्नों-पर सोविटोके प्रतिनिधियोकी खास खास आज्ञाएं मिली होती हैं और वे अपने निर्वाचकोंके निश्चयोंसे बंधे हुए रहते हैं। उनकी जिम्मेवारी अपने निर्वाचकोके प्रति इतनी कड़ी होती है कि, प्रतिनिधियोका चुनाव हर छठे महीने हुआ करता है। इतनेपर भी मजूरो और किसानोंको अधिकार होता है कि वे अपने किसी ऐसे प्रतिनिधिको किसी भी समय वापस बुला लें जिसे वे अपनी आज्ञाकी सीमा पार करते हुए देख ले। यदि कभी ऐसी अवस्था आ उपस्थित हो कि प्रतिनिधियोंसे किसी ऐसे प्रश्नपर राय देनी हैं जिसके विषयमें उन्हें उनके निर्वाचकोने पहलेसे किसी प्रकारकी आज्ञा नहीं दे रखी हैं, तो सोविटका असाधारण अधिवेशन किया जाता है और प्रति-निधिगण अपने अपने निर्वाचकोकी उस प्रश्नके सम्बन्धमें आज्ञा लेने जाते हैं। इस प्रकार आज्ञा लेनेके पश्चात् ही वे उस प्रश्न-पर मत देते हैं जिससे स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रश्नका निश्चय यद्यपि देखनेमे जनप्रतिनिधियोंद्वारा ही होता है, किन्तु उन प्रतिनिधियोंके सब काम अपने निर्वाचकोंकी निश्चित आज्ञाके अनुसार करनेके कारण वह निश्चय एक प्रकारसे जनसाधारण द्वारा ही होता है जिनकी शक्ति और भी अधिक पूर्ण इस तरह बनायी गयी है कि उन्हीके नियन्त्रणमें रेलें, भूमि और प्रधान कारखाने हैं। हमारी समझमें तो निर्वाचकोको इतना व्यापक अधिकार अन्य किसी स्वतन्त्रसे स्वतंत्र देशमे भी नहीं प्राप्त होता

है। बोल्शेविक लोग व्यापारियोंको संसारके सभी लड़ाई झगड़ों-की जड़ समझते हैं इसीसे धनिकों और व्यापारियोंके वे कट्टर शत्रु हैं और केवल रूससे ही नहीं, वरन् समस्त संसारसे उनका मूलोच्छेद करना उनके नेताओंने प्रारम्भहीसे बोलशेविक शासन-का प्रधान लक्ष्य बना रखा है। वे संसारके सभी भागोंसे ध-निकों और व्यापारियोंका प्राधान्य मिटा सर्वत्र सोवियट ढंगकी शासनप्रणाली स्थापित करना चाहते हैं। यही संसारके धनी और व्यापारीमात्रके उनके विरोधी होनेका मुख्य कारण है।




पुस्तक
कलकत्ता